अङ्क १ ... ५२

आश्विन वि०सं०२०१

सम्पादक—मण्डल

इस अंक में:—

१ राजस्थान के साहित्य में आबू

लेखक अगरचंद नाहटा

२ राग विबोधकार सोमनाथ (१६०६ ई०) के काव्य ग्रंथ

लेखक श्री पी० के० गौड़, एम०ए०

३ अमरसार

लेखक डॉ० दशरथ शर्मा

४ 'चेतावणी रा चूंगट्या' और पुरोहित देवनाथजी

लेखक ठाकुर ईश्वरदान आशिया

५ सम्पादकीय:—

१ लोक साहित्य का सार्वभौमत्व

लेखक कन्हैयालाल सहल

२ राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण

लेखक गिरिधारीलाल शर्मा

"सरस्वती देवयन्तो हवन्ते"

शोध-पत्रिका

[साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ की प्रमुख त्रैमासिक पत्रिका]

भाग ५ | उदयपुर, आश्विन वि०सं० २०१० | अंक १

राजस्थान के साहित्य में आबू

(ले० अगरचन्द नाहटा)

Abu in Bombay State ग्रन्थ के लेखक A V पाण्ड्या ने अपने ग्रंथ के पृष्ठ ४५ में लिखा है कि राजस्थान में यदि प्रारम्भ में आबू रहा होता तो राजस्थानी लेखक आबू के सम्बन्ध में कुछ भी साहित्य निर्माण करते। राजस्थान के कवियों एवं लेखकों ने आबू के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा–आबू राजस्थानी विद्वानों में उपेक्षित रहा। जब कि गुजरात के विद्वानों ने प्राचीन काल से अब तक बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने २२ बाईस प्राचीन ग्रन्थों और १५ आधुनिक ग्रन्थों की नामावली दी है–इस सम्बन्ध में कि राजस्थान के लेखकों ने आबू के सम्बन्ध में कितनी अधिक रचनाएँ की हैं, मैं पहले पाण्ड्या की दी हुई सूची के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक विचार उपस्थित करना जरूरी समझता हूँ।

उनकी दी हुई प्राचीन ग्रंथों की सूची में सब के सब ग्रंथ जैन विद्वानों के निर्मित हैं–केवल अर्बुद प्रशस्ति और 'सुकृत सकीर्तन' ये दो ग्रंथ ही जैनेत्तर कवियों के हैं और वे भी जैनियों के आश्रित थे। वस्तुपाल तेजपाल के सम्बन्ध में उनके आश्रित कवियों के ही लिखे हुए ये ग्रन्थ हैं इसलिये उन्हें जैन ग्रन्थों के अतर्गत ही रखा जा सकता है। १ सूची में दिये हुए कई ग्रन्थ गुजरात के विद्वानों के रचित नहीं हैं यथा –तिलक मजरी के रचयिता धनपाल को, पता नहीं गुजरात का कैसे मान लिया गया है ? वे तो मालवे के महाराजा मुंज और भोज के सभा कवि

थे। शेष जीवन में तो वे राजस्थानवर्ती मांचोर में आकर रहते थे। अतः उनको मालवे और राजस्थान का कवि कह सकते हैं, गुजरात के कवि तो वे थे ही नहीं। इसी प्रकार जिनप्रभसूरीजी भी गुजरात के नहीं थे। उनका जन्म राजस्थान में हुआ था और विहार भी राजस्थान, दिल्ली-उत्तर प्रदेश और दक्षिण में अधिक हुआ है। वैसे तीर्थ यात्रा आदि के प्रसंग से वे गुजरात आदि में घुमे हैं पर इसी से उन्हें गुजरात का विद्वान नहीं कहा जासकता। अपितु उनका जन्म राजस्थान में होने से वे राजस्थान के विद्वान ही माने जाने चाहिये।

प्रबन्ध कोष के रचयिता राजशेखर सूरि ने प्रबन्ध कोष की रचना दिल्ली में की है। वे भी गुजरात के विद्वान नहीं कहे जा सकते। ग्रन्थ की प्रशस्ति में यह ग्रंथ महम्मद साहि के समय दिल्ली में महणसिंह की दी हुई वस्ती (उपासरे) में रचा गया है स्पष्ट लिखा है। :—

"ढिल्लयां स्वदत्त वसतो ग्रन्थमिमं कारयामास" जिन महणसिंह की वस्ती मे यह ग्रंथ रचा गया, उनके पूर्वज बपक के पुत्र गणदेव, सपादलक्ष भूमि में उत्पन्न हुए थे। ऐसा प्रशस्ति मे उल्लेख है, सपाद लक्ष राजस्थान का ही प्रदेश है। राजशेखर सूरि जिन्होंने यह ग्रंथ बनाया है। वे हर्ष पुरीय गच्छ के थे और हर्षपुर भी राजस्थान का ही है अतः राज शेखर सूरि भी राजस्थान के ही विद्वान हैं। गुजरात के बतलाना गलत है।

४–वस्तुपाल चरित्र (जिन हर्ष रचित) को गुजरात की रचना कैसे बतलाई गई है ? कुछ समझ में नहीं आता। वह ग्रंथ संवत १४६३ में चित्तोड़ के जिन मंदिर में बनाया गया है। ऐसा प्रशस्ति में स्पष्ट पाठ है। क्या पंड्याजी चित्तौड़ को भी गुजरात का मानते हैं ? अन्यथा राजस्थान के ग्रन्थ को गुजरात का बतलाना सरासर क्या अनभिज्ञ व्यक्तियों को भ्रम मे डालना नहीं है ? वास्तव में जैन कवि गुजरात और राजस्थान मे समान रूप से विहार करते थे, अतः उनको केवल गुजरात के ही विद्वान मान लेना युक्ति युक्त नहीं है। यथाः– मुनि सुन्दर सूरि,सोम सुन्दर सूरि,इसी प्रकार अन्य विद्वान् राजस्थान में भी वैसे ही धर्म प्रचार करते रहे हैं, जैसाकि गुजरात में किया है। सोम सुन्दर सूरि तो मेवाड़ मे बहुत अधिक विचरे हैं। राणकपुर आदि की प्रतिष्ठाएँ भी उन्होंने की हैं। सोम सौभाग्य

काव्य आदि में उनके मेवाड के विहार एवं धर्म प्रचार का बहुत विस्तार से वर्णन पाया जाता है।

आधुनिक गुजरात के विद्वानों के रचित आबू सम्बन्धी रचनाओं की सूचि में जयत विजय का अर्बुद स्तोत्र सग्रह ग्रन्थ तो अभी छपा ही नहीं है। देवकुल पाटक ग्रन्थ को और उसके रचयिता विजय इन्द्र सूरिजी को गुजरात का विद्वान बतलाना भी भारी भूल है (अ) इन्द्र सूरिजी पजाब के हैं। और जिस देवकुल पाटक के सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखा गया है, वह राजस्थान मेवाड का है। सम्भव है पांड्याजी ने आबू के देलवाडे का देवकुल पाटक मानकर यह भूल की हो। इस प्रकार गलत और मिथ्या बातें लिखकर पाड्याजी आबू का गुजरात में होना कभी सिद्ध नहीं कर सकते, न ऐसे झूठे प्रमाणों से आबू गुजरात में रह ही सकता है। गुजरात के विद्वानों के रचित आबू सम्बन्धी साहित्य की सूची बढाने के उद्देश्य से ही उन्होंने [1] तीर्थमाला, मेघ कवि रचित, [2] चैत्य परिपाटी–महिमा विजय [3] तीर्थ माला, शील विजय, ४ तीर्थ माला ज्ञान विमल को प्राचीन ग्रन्थों की सूची में दिया है और उनके सग्रह ग्रन्थ प्राचीन तीर्थ माला को आधुनिक तीर्थ ग्रन्थों में फिर जोड दिया है। इसी प्रकार अचलगढ और चित्रमय अचलगढ ये दो ग्रन्थ भी भिन्न २ नहीं हैं। अचलगढ पुस्तक में छपे हुए चित्रों को अलग से सग्रह करके चित्रमय अचलगढ पुस्तक प्रकाशित की गई है। वास्तव में यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। चित्रमय अचलगढ को बुद्धिसागर सूरि का बतलाना भी गलत है। वास्तव में यह जयन्त विजयजी का ही है। इसी प्रकार भारतना जैन तीर्थों नामक पुस्तक जयन्तविजयजी की नहीं है। सारा भाई नवाब है। जैन पत्रावलि-उसी–भारत जो जैनतीर्थों में उद्धृत करके स्वतन्त्र छपवा दी होगी पर इसमें आबू के चित्रों के सिवाय कुछ विशेष बात है नहीं। वैसे आबू के जैन मन्दिरों के चित्र तो विश्व विख्यात हैं राजस्थान के ही क्यों जहाँ कहीं के भी कला सम्बन्धी पुस्तकों में समूचे चित्र छपे मिलेंगे, पाड्याजी को तो लम्बी सूची बनानी थी न। अन्यथा देवकुल पाटक में आबू सम्बन्धी वर्णन है ही क्या? उनके मुआफिक केवल आबू के उल्लेख वाले ग्रन्थों की ही यदि मैं सूची बनाने बैठूं तो दुगुनी चौगुनी आबू सम्बन्धी राजस्थान के विद्वानों के रचित ग्रन्थों की सूची उपस्थित कर सकता हूँ पर मुझे ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है। जब किसी व्यक्ति का पक्ष निर्बल

होता है तभी उसे कल्पित एवं झूठी बातें बढ़ा चढ़ाकर कहनी अत्यंत आवश्यक होती है। मैं तो केवल ऐसी रचनाओं का ही निर्देश करूँगा, जिनमें आबू का केवल उल्लेख मात्र ही नहीं अपितु उसका वर्णन भी बड़े अच्छे रूप में पाया जाता है। और वैसी रचनाओं की सूची भी पांड्याजी की सूची से बढ़ जायगी। पांड्याजी सूचित सार आबूके रचियता पालृंण, तीर्थमाला के रचयिता मेघ कवि आदि गुजरात के ही थे यह निश्चित नहीं है। गुजरात के किसी जैनेत्तर विद्वान ने तो स्वतंत्र रूप से कोई रचना निर्माण की ही नहीं, प्राचीन रचनाओं में तो दो तीन बतलाई जा सकती है उनके रचयिता भी जैन आश्रित थे। आधुनिक ग्रन्थों में तो केवल सयाजी ग्रंथ माला से प्रकाशित "आबू" नामक एक ही ग्रंथ का वे उल्लेख कर सकते हैं। जबकि राजस्थान के जैनेत्तर कवियों में से केवल आबू के वर्णन के रूप में रचित "रूपो" कवि का "आबूजी का छंद" और "चेलो" कवि रचित 'आबू सैलरी गजल" ये दो रचनाएँ तो विशिष्ट हैं। ऐसी विशिष्ट आबूजी के वर्णन वाली रचनाएँ गुजरात के जैनेत्तर कवि की उपलब्ध है ही नहीं-ऐकलगिड डाठाले वराह री वात और राजा नरावत री वात वनाव आदि में भी आबू का सुन्दर वर्णन मिलता है। एकलगिड़ वाराह की वात जैसा महत्वपूर्ण वर्णन तो अप्राप्य है। यहाँ जैनेत्तर ग्रन्थों के आवश्यक उदाहरण पहले दिये जा रहे है। ये ग्रंथ चारण कवियो की ही रचनाएँ है। राजस्थान के जैन कवियों ने तो अपने स्तवनों में आबू का सुन्दर वर्णन तो किया ही है जो आगे दिया जायेगा।

एकलगिड वाराह की वातः—

अथ दाढाला एकल गिडरी वात लिख्यते।
जंबू द्वीप भरत खंड में अष्टकुल पर्वत तिहाँ अढारै गिर।
अढारै गिरारो अरबुद सिगे (मणि) सो अरबुद किसड़ोयक छै॥
इण दूहा जिसड़ो छै।

दूहा:—

वनस्पति पाषण वणी, वरणा टूक विहद।
पटा विछूटां नीजरण, आयो गिर अरबुद॥ १॥
(अरबुद किसड़ोयक छै? इण दूहा जिसड़ो छै।)

दूहो — घेघु वीलु वी घटा, सरवर पप्पी सद्द ।
[1]जगसां सूवा वालिया[2], आजूणो अरवुद्द ॥ २ ॥
घै घु श्री लु बीघटा, बीजू सहरा बद्द ।
बादल माहि विराजियो, आजूणों अरवुद्द ॥ ३ ॥
पूर अरवुद किसडोयक छे ?
चपो म[2]रुश्रो गिरचढै, आवा [3]चावै अवृल[*] ।
अरबुद सूं अलगा रहै, तिहारा कोण हुव्वल ॥ ४ ॥
वले अरवुद किसड़ोयकछे ।
अरवुद केरा खेतडा, केत कियारी वाड ।
अनदेसी[4] अर[5] जस करै, सिर पाघडिया चाड ॥ ५ ॥
अरबुद किसडोयक छे[6] ।

दूहो —
जाणै जिके सुजाणनर, नहिं जाणे सो थोक ।
जमी अर असमान विच, तीजो अरवुद लोक ॥ ६ ॥
टुँके टुँके केवकी, खाले खाले जाय ।
अरवद री छव देखता अवर न आवे दाय ॥ ७ ॥

वात —
इण अरबद ऊपर अढार मार वनस्पति झुकने रही छै
घणो चपों चवेली झोग जुही फुल रह्या छै ।
जिण अरवुद उपरा अडसठ तिरथ आय विश्राम लियौ छै
जिण अरवुद उपरै अठयासी रीख,
नवनाथ चोरासी,सीध, तपस्या करै,
तेतीस कोड देवता मेलै भरै,
निनाणु कोड राजा मिलै । इसै अरबुद छै, मृत्य लोक मे सरग छै,
तिण ऊपर एक दाढालो वाराह तपस्या करै ।
एक भडण सो पण अरबद उसर वरस बारह तपस्या करै ।
दोनानु तपस्या करतां विनीत हुश्रा ।
जितन्द्री रहे । श्रीसदाशिवजी री पूजा करे ।

सो एक दिन बारहवर्ष की तपस्या में भटे हैं ।
सो विधाता रे लेख हुक्म सूं भूंडगा प्रातःकाल भास्कर के घड़ी दो रे
सूरज कुंड स्नान करे छे । तिण समये दाढ़ालो पण सूरजकुंड स्नान
करै, वां आयो ! देखे तो आगे भूंडगा स्नान करे छे । तद पाछो पकड़
पावड़ सालिया उपर खड़ो रह्यो । तद भूंडण बतलायो तूं कोण ? तद
दाढ़ालो बोलियो हूं दाढालो ...... × .... × .... × ....

इस कथा में आगे इनके पूर्व जन्म का वृत्तान्त कहते हुए ऋषियों ने कहा है "थे पूर्व जन्म जक्ख था । कुबेर रे खजाने रा रखवाला था । एक दिन कुबेर रे पाकसिद्ध हुवो थे । तेने थे स्त्री-पुरुप पहले भोजन कियो । कुबेर लखियो । तद थानु कह्यो थे, सूअर जोन पाओ,थे जाओ । सूअर हुवो । तद इहां दोनां हाथ जोड़ अरज कीवी । जो म्हारो अपराध थोड़ो, दण्ड मोटो दियो । दीन होय अरज कीवी । तद कुबेर कृपाल हुय कहयौ, सराप पलो हवै मिटै नहीं, भोगविया छूटसी । पण थे जाओ । आबू में जन्म पावो तपस्या करो । श्री महादेवजी अचलेश्वरजी पूजा करो । उठे थे दोनुं भेला हुसो, थारो घर वास हुसो । पछे थारे पाँच पुत्र हुसी × ।

इसके आगे दाढाले के युद्ध का वर्णन बड़े विस्तार से है । उपर्युक्त उद्धरण से राजस्थान के चारण कवियो की दृष्टि में भी "आबू पाप विनाशक तीर्थरूप स्थान" है सिद्ध होता है । प्रारम्भिक दोहो में कवि नेः—

अरबुद सूं अलगा रहै तिहारा कोन हव्वल ?
जाणै जिकौ सुजाण नर नहिं जाणै सो बोक ।
जमी असमानां बिचै, अरबुद तीजो लोक × ।

इस वार्ता की अन्य प्रति मे एक और दोहा भी आबू की प्रशंसा में मिला है ।

इत ऊँचो गहरो घणो, मद भीनो मणिहार ।
परबत को देख्यो नहीं अरबद री उणिहार ॥

× में जो ठोस बात कही है–इससे बढकर और कोई कवि क्या वर्णन करेगा ।

इसी प्रकार सिरोही के राजा सुरताण देवडा का कहा हुआ एक दोहा आबू के सौन्दर्य के सम्बन्ध में बहुत ही प्रसिद्ध है।

टूँके टूँके केतकी, झरने झरने जाय।
अरबुद री छबि देखता, और न आवे दाय॥

बीकानेर की अनूप संस्कृत लाईब्रेरी के गुटके नं० २१० और २०२ मे १ बात हर जस रे नेणारी, २ बात माने देवडे री, ३ बात सिरोही रे धणीया री, ४ बात राव सुरताण री, आदि राजस्थानी वार्ताओं में भी आबू का अनेक बार उल्लेख आता है। इनमें आबू के गाँवो की विगत आदि ऐतिहासिक महत्वपूर्ण हैं।

राजस्थानी गद्य के विशिष्ट वर्णनात्मक ग्रन्थ "राजान रा उतरो बात वणाव" के प्रारम्भ में ही आबू का उल्लेख इस प्रकार किया मिलता है-"ओंकार महादेव परमात्मा, परम शिव, परम शक्ति अचलेश्वर, अचल आसन कियो, तिण थान करी ठौड नन्दिगिर, हेमाचल रो बेटो, दूसरो मेरगिर, अठार गिर रो राजा, आबू गयन्द कहिजे। तिणारे बैसणे उपरि ईश्वर रा अवतार महाराजा राजेश्वर राज करे। तिण राजेश्वर राजा महाराणी महामाया पटराणी, तिणरो पेट रो निवनो कुँवर गुर पाट पति कुँवर। श्री राजान कुँवर पदो भोगवै, कामदेव री मूर्ति, नव कोटि मरुधर रा पति नरेश अनेक विरद विराजमान"।

इस उल्लेख में दो बाते महत्व पूर्ण हैं। प्रथम आबू को अठारह गिरियों का राजा बतलाया है। अठारह गिरि विशेष सम्भव आबू के सलग्न अरावली के १८ पहाड होंगे। अत अरावली के अन्य पहाड अपने राजा आबू से अलग नहीं रह सकते। अरावली के अन्य पहाड राजस्थान में हैं तो आबू उनका साथी है ही। कवि कुशललाभ के ढोलामारु की चौपाई मे भी "गिरि अठार आबू धणी" शब्द आये हैं, इसमें (अठार शब्द) अठारह गिरियों का सूचक ही होगा। बात वणाव का दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख आबू के राजा को "नव कोटि" मुरधर रा पति" विशेषण दिया है। इससे अरबुद प्रदेश इस ग्रन्थ रचना के समय मारवाड के अन्तर्गत था व उस समय उसके जोधपुर के राजाओं के अधिकार में होना सिद्ध होता है।

आबू का विस्तृत वर्णन पनजी सुत चेनो, जो कि जिलिया गाँव का रतनो

खांप का चारण था-ने ६५ पद्यों में किया है। इस गजल की नकल मेरे संग्रह में थी और वह साहित्यालंकार मुनि कांति सागरजी को भेजी गई थी पर खेद है कि वह बहुत तकाजा करने पर भी उन्होंने उसे वापस नहीं लौटाई। अतएव उस वर्णन के सुन्दर पद्य तो यहां नहीं दिये जा सकते। पर इस रचना का विवरण मैंने अपने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज द्वितीय भाग के पृष्ठ ८८ में प्रकाशित किया है। उसे ही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ।

"आवू शैल री पजल। पद्य ६५। पनजी सुत चेलो। सं० १६०६ वैशाख कृष्ण तीन।

आदि- ब्रह्म सुता पद वीनवुं, मन गण राज मनाय।
शोभा आवू शैल की, वरणूं उक्ति वणाय ॥ १ ॥

अन्त- सीधो करण नाइ साथ, भैरो जगू दोनुं भ्रात।
सत उगणीस नो की साख, वदि पख लागतो वैसाख ॥ ६३ ॥
राजा रहे सारा रीझ, तापर करी आखातीज।
जिलीयो गाम रतनूं जात, पनजी सूतन चेलो पात ॥ ६३ ॥

[प्रतिलिपि अभय जैन ग्रंथालय]

राजस्थान के परमार चौहाण आदि ने आवू के लिये कितने बड़े २ संग्राम किये, इसका इतिहास साक्षी है। मुँहणोत नेणसी की ख्यात में तेजसी और उसके साले मेराक संवाद में आवू मेरा है कि तेरा, इस पर काफी विवाद हुआ लिखा है, और अन्त में मेरा के चाचाने उससे वड़े जोरदार शब्दों में कहने के लिये इन शब्दों का प्रयोग किया है।

"**आबू म्हारों, म्हारा बापरो, म्हारा दादारो,** अर्थात आवू के साथ हमारा अविच्छेद परम्परागत घनिष्ट सम्बन्ध है।

सिरोही के राजाओ के आश्रित अनेक चारण कवि थे। जिन्होंने राजस्थानी भाषा में राजवंश के साथ आवू का भी वर्णन किया है। नेणसी की ख्यात में आसीयो भालो और आसीयो कर्मसी के कवित्त उद्धृत हैं। इसी प्रकार दयालदास की ख्यात में भी "आवू छोड़ायो जिन साखरी कवित" अरवुद उपर झगड़ो हुवो

जिण भावरो गीत" घणे धोलूजी गे कह्यो आदि गीत और कवित्त प्रकाशित हो चुके हैं। गीत के रचयिता धोलूजी बीकानेर राज्य के देशनोक के थे।

राजस्थानी भाषा में चारण कवियों के रचित आबू के और भी कई गीत जानने में आये हैं जिनमें से कुछ सीतारामजी लालस के संग्रह में भी हैं जो प्राप्त होने पर प्रकाशित किये जायेंगे।

सिरोही के राजकीय संग्रहालय में और इस राज्य के अन्य जागीरदारों और चारण कवियों के संग्रह में राजस्थानी कवियों के रचित आबू सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलने की आशा है।

अब रूपा कवि का "आबू छंद" यहाँ दिया जा रहा है जिसमें "अमरापुर सरग जिसी गढ अरबुद में सबजी इसडी" टेर है। अर्थात आबू को स्वर्ग सदृश होना वर्णित किया है।

आबू छंद

दोहा — पुत्र गवरी समरा प्रथम, मारग दियो सु सुत्ति ।
अकल समापो ईसरी, कोरूँ करो कुमत्ति ॥ १ ॥
आप वडा सो ईसरी, सिध बुध दियो सताइ ।
गुण अरबुद रा गावसा, जिण तिण आगल जाइ ॥ २ ॥
अचल गढु अरबुद इसो, सहु जाणे समार ।
तैतीस कोड देवत तटै, पग पग नावै पार ॥ ३ ॥
वनस्पती वासाणीया, भार अढारे भाँति ।
दिपे अनोपम देहरा, खूब कोरणी खाति ॥ ४ ॥
अर्बुद माता ईसरी, वसे पहाडा वीच ।
पुत्र भैरु दो पारवती, पकडै गणपत पीच ॥ ५ ॥
तीन लोक में ताहरी, लोपे नह कोइ लीह ।
महिषासुर तैं मारियौ, छल करि ग्रहियो सीह ॥ ६ ॥

छन्द रेडकी—

तो छलकर सीह पलाणे, मकती होई अम्नार जनु हाती,
दल मिलिया आय परणधा दानव, पड़ैं न रहे तिणरी पाली ।

ईशरी शीश वाढ़ियां असुरां, होट रमन्तां उडै दड़ी ।
अमरापुर सरग जिसो गढ़ अरबुद, अर्बुद में सबजी इसड़ी ॥ १ ॥
दीढ़ां अति खांति अमोलक देहरां, तवाज गौड़ी धणी तठे,
चंदण चरकाव केसरां चाढै, आवै दुनिया जात उठै ।
महकै अति कमल सोभती मूरती, गिरन्द मेटिजै घड़ी २ ।
अमरापुर सरग जिसो गढ़ अर्बुद, अरबुद मे सबजी इसड़ी ॥ २ ॥
नव हथां जोध दसै इण जागां, कुण्ड सावंण भाद्रव कहियै ।
गौमुख वसुदेव रिसै सर गौधम, लुलि २ व्हांरा नामलियै ॥
अति देव अनोप पहाडां ऊपरि, पूरां सीधां नै खबर पड़ी ।
अमरापुर सरग जिसो गढ अर्बुद, अर्बुद में सबजी इसड़ी ॥ ३ ॥
जिणमे जोग्रन्द अतीत जटाला, केई बैठा तप जाप करै ।
आसण दिढ़ रहत वाहिर न आंवै, ध्यान ग्यान मन मांहिधरै ।
पहाड़ा मांहि सब्रदा पूरै, चढ़ी न सके पंखी चढ़ी ।
अमरापुर सरग जिसो गढ़अर्बुद, अरबुद मे सबजी इसड़ी ॥ ४ ॥
अचलौ शिवनाथ अचलेश्वर आखां, काम मारि जिण रिद्ध कियां,
राजी, जदी होय ऊपरां रामज, देश लंका गढ़ पाट दिया ।
अंगुठौ उठै पूजावै ईशवर, कही उणरी माया किराड़ी ।
अमरापुर सरग जिसो गढ अरबुद, अर्बुद में सबजी इसड़ी ॥ ५ ॥
वंद वाधी पखो पातीसा ,ठारै, अन्जस करि लड़वा आयौ ।
भोले शिवनाथ मेली आभरा खूंटी २ ववांरो पीड खायो ।
वरतै तेजपाल अनै साह विमलै, कीया बंध जंजीर कड़ी ।
अमरापुर सरग, जिसोगढ अर्बुद अर्बुद री सबजी इसड़ी ॥ ६ ॥
गमिया ने वालिम सरिखा रावत, अतुली वल पौरस इसा ।
वारह जिण पाजी राति में वांधी, तेवां भीम हनमंत तिसा ।
उण ढोरी पुरुप साहि जै इसड़ा, भारी कामा रहे मडी ।
अमरापुर सरग जिसो गढ अरबुद, अर्बुद में सबजी ईसड़ी ॥ ७ ॥
नखी तलाव झीलीयां जेनर, पींडरा प्राछित गया परा ।
गरथ रा दांन रजक ने गांया खरचै जिकै उढै खरा ॥
क्रम छूटै मधम उत्तम हुइ काया, मैंप भैख लेरा जिसड़ी ।

अमरापुर सरग जिसोगढ अरबुद, अर्बुद में सबजी ईसडी ॥ ८ ॥
चवैली अनै केतकी चंपा आवा दाडिम राण अठी ।
बीजोरा झम्मु केवडा वहुला जे जोवे जेवरतु जीती ।
जावन्नो जाई केली अति जाम्भी तडै गुलबाहे विसडी ।
अमरापुर सरग जिसो गढ अरबुद अर्बुद में सबजी ईसडी ॥ ६ ॥
ऊलम वरसात घटा करि आवै, सेहर री छींपा अम्बर चढै ।
विजलियां जिकै चमकै चिहु दिसी, पावस मेहा तणा पडै ।
उण वेला छणौ पीयारो आबू झरमर वरसै लगै झडी ।
अमरापुर सरग जिसो गढ अरबुद, अर्बुद में सबजी ईसडी ॥ १० ॥
सवजी वडी सचौंप मोर वाबीया मैंकह सवजी वडी सचोपकड कोइला कै कें ।
सवजी वडी सचौंप विधि २ सूजा विराजै सवजी वड़ी सचौंप मेद्या दुख दारिद्र भाजै।
उण ठौर जात्री आवै अपग देवा परचौ दाखिये ।
कर जोडी सुकवि रूपो कहै, भलौ अर्बुद गढ भाखियै ॥ ११ ॥

इति श्री आबूजी रो छद सम्पूर्ण ।

आबू के सम्बन्ध में राजस्थान के जैन कवियों ने करीब ४०-५० स्तवन, स्तोत्र, चैत्य परिपाटी, विज्ञप्ति, तीर्थमाला आदि रचनायें की हैं। १४ वीं शताब्दी से अब तक ऐसी रचनाएँ निरतर होती रही हैं। खरतर गच्छ के आचार्य जिन-रत्न सूरि ने अर्बुदालकार आदि स्तवन नामक १५ श्लोक का सस्कृत भाषा का स्तोत्र बनाया है। जिनका समय १४ वीं शताब्दी का है इस स्तोत्र की स० १४३० की लिखित प्रति बीकानेर के बृहद् ज्ञान भण्डार में उपलब्ध है। १५ वीं शताब्दी के प्रारभ में तरुण प्रभसूरि रचित अर्बुदालकार आदिनाथ एव नेमीनाथ स्तोत्र २४ श्लोकों का इसी प्रति में पाया गया है। आचार्य सोम सुन्दर सूरि, मुनि सुन्दर सूरि, भुवन सुन्दर सूरि, आदि के अर्बुदाचल के जैन चैत्यों सम्बन्धी स्तोत्र, इसी शताब्दी की रचनाएँ हैं। १५ वीं शताब्दी से राजस्थानी भाषा में आबू सम्बन्धी स्तवन आदि का मिलना प्रारम्भ होता है। जिनमें से जयसागर उपाध्याय का अर्बुदतीर्थ विज्ञप्ति गाथा १३ की प्रति उपाध्याय विजय सागरजी के सग्रह में से मिली है। इसके बाद की रत्न सुन्दर सूरि और नन्न सूरि की रचनाएँ जैन युग में प्रकाशित हो चुकी हैं। १६ वीं शती तक की सभी रचनाओं की भाषा को प्राचीन

राजस्थानी भी कहा जा सकता है। क्यों कि उस समय तक गुजरात एवं राजस्थान की भाषा में इतना अंतर नहीं था। दोनों एक जैसी ही भाषाएँ थीं।

पांड्याजी ने कुछ भी सोचे विचारे बिना व राजस्थानी का तनिक भी अध्ययन किये बिना पता नहीं यह कैसे लिख दिया कि आबू के सम्बन्ध में राजस्थानियों ने कुछ लिखा ही नहीं है। एक शोध प्रेमी विद्वान के लिये ऐसी मनमानी बातें लिख डालना सर्वथा अशोभनीय है। किसी चीज को स्वयं जाने बिना उट-पटांग या गलत रूप से लिख देना यह उन्हीं को शोभता है। गुजरात से उनको बहुत बड़ी। रकम भेंट में मिली होगी। तभी विचारों का आकाश पाताल एक करना पड़ा जो बातें सर्वथा नहीं हैं उनको सिद्ध करने के लिये अनेक हथकण्डे अपनाने पड़े। हम राजस्थान निवासियों को ऐसा करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है।

साँच को आँच कहाँ, और सत्य चीज को प्रमाणित करने के लिये अधिक श्रम एवं दौड़ धूप की आवश्यकता नहीं—अस्तु १७ वीं शताब्दी से तो राजस्थान के जैन कवियों के रचित प्रचुर आबू सम्बन्धी स्तवन मिलते हैं। जिनमें से लब्धिकल्लोल के स्तवन जालोर से निकले हुए आबू के संघ यात्रा के वर्णन वाले हैं। इसी शती में राजसमुद्र, समयसुन्दर, शिव निधान, जिन समुद्र सूरि आदि के रचित स्तवन हमारे संग्रह में हैं। इसी प्रकार १८ वीं शताब्दी के कवि धर्मवर्धन, महिम सुन्दर, प्रेमचन्द, ज्ञानसागर, नयणरंग, आदि के आबू स्तवन भी हमारे संग्रह में हैं। १९ वीं शताब्दी के कवि जिन लाभ सूरि, रूपचन्द, वस्ता, मुक्ति सूरि, एवं दीपविजय के आबू स्तवन भी हमारे संग्रह मे उपलब्ध हैं। इन स्तवनों में आबू तीर्थ का जो भी भक्ति भाव गर्भित व प्रेरणा लायक गुण वर्णन किया है। उसके थोड़े से उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

आबू तीरथ भेटियो, प्रगट्यो पुण्य पडूर। मेरे लाल।
सफल जनम थयो माहरो, दुःख दोहग गया दूर। मेरे लाल ॥ १ ॥
विमल विहार प्रणमी जिन पूज्या, केशर चन्दन कपूर। मेरे०
देव जुहारया रूडी देहरी, भाव भक्ति भरपूर ॥ २ ॥
वस्तग तेजल वसहि वैद्या, राजुल वर जिनराय। मेरे लाल।

म डग मोह्यो मन माहरो, जोता तृप्ति न थाय। मेरे लाल ॥ ३ ॥
भाव सू भीमग वसहि भेट्या,आदिश्वर उल्लास। मेरे लाल।
मण्डलीक वसहि मुख मण्डण चौमुख चरच्या पास। मेरे लाल ॥ ४ ॥
अचलगढ़ें आदिश्वर अरच्या, चौमख प्रतिमा च्यार।
शाति कुन्थु प्रतिमा अति सुन्दर,प्रणमी अवर विहार। मेरे० ॥ ५ ॥
सवत सोल सतावने (१६५७) वर्षे चैत्र वदी ४ चौथ उदार। मेरे लाल ॥
जात्र करि जिनसिंह सूरि सेती, चतुर विध सघ परिवार।
आबू तीरथ विंब अनूपम, काऊ सगिया अभिराम। मेरे लाल ॥
समय सुन्दर कहे नित नित म्हारो, त्रिकरणी सुद्ध प्रणाम। मेरे लाल ॥

कविवर समयसुन्दर राजस्थान के साचौर नामक स्थान में जन्मे थे और उनका अधिक विहार राजस्थान में ही हुआ है। पिछले जीवन में वे गुजरात में रहे अत उनकी पिछली रचनाओं मे कुछ गुजरातीपन मिलता है पर आपके आबू के जो दो स्तवन मिले हैं वे पूर्ववर्ती जीवन के (जब कि वे राजस्थान में ही अधिक विचरते थे।) रचित है। कविवर ने प्रथम यात्रा जैसा कि उपर्युक्त स्तवन में उल्लेख है। आचार्य जिनसिंघ सूरि और चतुर्विध सघ के साथ स० १६५७ के चैत वदि ४ को की थी। दूसरी यात्रा स० १६७८ में करके वे सिरोही पधारे थे उस यात्रा के स्मारक आबू तीर्थ भास का केवल प्रथम पद्य ही नीचे दिया जाता है —

आबू पर्वत रूयडो आदि सर ऊचौ गाउ सात रे,
आदि सर देव पाजइ चढता, दौहि लऊ पणी पुण्यना घणी वात रे ॥ १ ॥
आदि सर देव आबूनी यात्राकरी, सफल कियो अवतार रे।

१८ वीं शताब्दी के कवि धर्म वर्धन ने तो बड़ा ही प्रेरणादायक आबू स्तवन बनाया है। उस स्तवन में आबू आने लिये बड़े सुन्दर शब्दों में आमन्त्रण दिया गया है। देखिये उनके शब्द कितने प्रेरणादायक हैं —

आबू आज्योरे, आबू आज्योरे, आबू आज्यो वहिला थाज्यो।
मानव नव भव सफल करो तो, जात्रा काजइ आज्यो।
वामा नदन वदन वहिला, अचलगढ़ पिण आज्यो।
आबू आज्योरे, आबू आज्यो ••• •• ॥ १ ॥

हांरे म्हारा सयणां, सांचा वयण सुणे ज्यों ।
अधिको तीरथ आबू, सहू पातक मल साबू ।
झलमल देवल जोज्यों, देवल जोज्यो हरखित होज्यो ।
भूरि पातक मल धोज्यों, सहु सुख दायक, तीरथ नायक जोवा लायक जोज्यो ।

हांरे म्हारां सयणां नयणा सफल करिजो ।
दूर थी देवल दीसै हीयडो तिमर हींसै ।
लुलि लुलि सीस नमाज्यों, सीस नमाज्यो गुण गावरा ज्यों,
वलि श्रीफल वध राज्यो, धन धन वेला धन ए घटियां ।
धन अवतार धराज्यो ॥ ३ ॥ आबू आज्यो .... ।
हारे म्हारां सयणां, ऊंचे गिरिवर चढि ज्यों ।
काई लुंचा आंबे लहिके केतक चंपक महकै

मह मह परिमल लेज्यौ, परमल लेज्यो दुःख दलेज्यो ।
देहरे भमती देज्यो, तोरणि थोरण विनती चोरण,
कोरणी अनुपम देज्यो ॥ ४ ॥ आबू आज्यो० ।

हारे म्हारां सयणां, विमल वसहि वांदे ज्यो ।
केशर भरिय कचौली, माहे मृगमद घोली ॥

घन घन सार धुलाज्यो, घनसार धुलाज्यो, भाव मिला ज्यो,
आसातना ढलाज्यो,नव नव रंगी,चंगी, अंगी,अगि रचाज्यो,आबू आज्यो॥५॥
हांरे म्हारां सयणा, खेलापात्र नचाज्यो,
सरिखे वेश समेला, भमती रमता भेला ।
थिगमिग-थिगमिग थेई थेई थिगमिग थेई थेई तनकता थेई ।
शिवपथ सनमुख थाज्यो, धप मप दो दों, भरहर भों भों मादल भेर वजाज्यों
॥ ६ ॥ आबू आज्यो
हारे म्हारां सयणां, अचलगढे अरच्याजो ।
च्यारे विंब उत्तंगा, सोवन रूप सुचंगा ।
झलहल झलहल, झिगमिग ज्योति सराज्यो ।
ज्योति सराज्यो भाव भराज्यो, जात्रा सफल कराज्यो ।

विजय हर्ष सुख माता वाछोशुभ धर्म मील भराज्यो ॥ ७ ॥ आबू आज्यो
इति अर्बुदाचल पार्श्व नाथ जिन स्तवन ॥

इसी प्रकार की प्रेरणा उन्नीसवीं (१६ वीं) शताब्दी के कवि रूपचद के स्तवन में पाई जाती है ।

जातीडाभाई, आबूडा री जात्रा करिजौ ।
जात्र मणि उमहिंज्यौ, तुम्ह नर भव लाहौ लिजौरे ॥जाति०॥
पचतीर्थी माहें छाजै आबू मारुडे देश विराजे रे ॥जाति०॥
मरगथि नादै लागौ, ऊँचौ अवरीये जाईनै वागौरे ॥जाति०॥
गेतो देवारो वास कहावै, निरखन्ता त्रिपति न थावैरे ॥ जा० ॥
गे तो डूँगरीयाणों राजा, एहनि छै, वारह पाजारे ॥ २ ॥ जा० ॥
इहाँ छह कति वास वनायो, गेतो चपता अवला छापोरे ॥ जा० ॥
इहा सरवर झरणा झाझा जिहाँ तिहाँ वन वेल्या आकारे ॥ ३ ॥जा०॥
भार अढारै वणराई, गे तो इहाँहिज निजरै आई रै ॥ जा० ॥
दह दिशि परिमल आवै, फूल एनौ रग सुहावे रे ॥ ४ ॥ जा०॥
उपरि भूमे निराला नेपन निम रलियारा रै ॥ जा० ॥
विमल मत्री वरदाई, चकेसरी देवी सहाई रे ॥ ५ ॥ जा०॥
पोरवाड वश वदी तौ, जिण दलपति साही जितौरे ॥ जा० ॥
देवल तैण करायौ, पाटण आरस मडायोरे ॥ ६ ॥ जा०॥
झीणी झीणी कोरनी भैर्यो, दल मागन जेम उठेइयो रे ॥ जा० ॥
विधि विधि भाति वनाई, जिहाँ तिहाँ कोरणीया झिल्लाई रे ॥ ७ ॥ जा०॥
उतरै पाहण जे तौ, जो त्रीजै मोवन ते तो रे ॥ जा० ॥
आदि जिनेश्वर सामी, प्रतिमा थापी हित कामी रे-इत्यादि ॥ ८ ॥

इसी सुकविमहोपाध्याय रूपचन्द्र के अन्य आबू स्तवन में भी कहा है —
"आबू गिरिंद सौहामणो, मारु खड मल्हार साहिबजी ।
जिहा देवै वासो लियो, वलराई भार अढार । सा० । १ । आ० ।
चढता विषमी घाटड़ी, श्रम चढिस्यै असमान । सा० ।
विच वहितां विषमीधरा, धारेज्यो पग पाल । सा० ।

देवल वाड़ै आवीया, हुए जामी माहू दूर । सा० ।
चंपला आंवा छाइयौ, निरखे जगै देवलनूर । सा० ।
विमल वसीनै देवनै, सांचो मरग निवास । सा० ।
जिम २ फिर २ जो वस्यौ, तिम उपज्यौ उल्लास ॥ ४ ॥ सा० ।
जिहाँ तिहाँ भीणी कोरणी, जिहाँ तिहाँ नवल निवांण । सा० ।
अचरिज आवै जोवतां, पियन पड़ै भाव पिछाण । सा० ।

आचार्य जिनविजयसूरीजी ने अपने अर्बुद स्तवन में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ।

"आबू तीरथ अति भलौ, देखंता हो दिल आवै दाय कि ।
भेटतां भावति टलै, थिर संपन हो सहूए सुख थाय कि ॥ १ ॥ आ० ॥
मोटो गिरि महिमां घणी, मोटा देहरासा जिन चिणकि ।
मोटो तीरथ मही चलै, मोटां तरवर हो जिहा चांपा अंवकि ॥ २ ॥ आ० ॥
मोगरो मय कुंद मालती, कुंद केनकी हो कुरुपा महिकजू कि ।
भई जूही चंवेजड़ी, मरुओ दमणौ हो मेवंतरी द्वारवि ॥ ३ ॥
इम अनेक वृक्षावली, गिरी छायो हो सीतल अविवायकि ।
कोइल जिहाँ कलरव करै, मधुर सुरै हो मधुकर गुंजाय कि ॥ ४ ॥
नीर झरे झरणा घणां, खूह रवागले हो विहरे हरो हंनकि ।
वारै पाजै विराजतौ, परनर माहो मनड़ा मोहंत कि ।
छत्र दिहाडो घन घड़ी, घन वरसै हो घन पख छन मारुकि ।
तीरथ एह जहारीयौ, अल सफल भई मन हारी आस निरास ।

इसी प्रकार मुनि वात्ता के 'आबू स्तवन' में वर्णन देखिये:—

आबू तीरथ अति भलो, मरुधर देस मंझार । साहिब जी ।
सह तीरथ सिर सेहरो, अति से जास उदार । साहिब जी ।
धन्य वरस धन मास ए, धन धन ए दिन आज । सा० ।
आज घड़ी लेखे पड़ी, भेट्या श्री गिर राज । सा० ।
सोरठ देसे सोभता सैत्रंजनै गिरनार । सा० ।
अष्टापद पूरव दिसै, संयत सिखर सिरदार । सा० ।

देस सिरोही दीपतो अरबुद तीरथ एह ॥ सा० ॥
पाच तीरथ ए अर गजा प्रणवीजै धरिनेह ॥ सा० ॥
कवि चैन विधि विधि कहै अरबुद मोभ अपार ॥ सा० ॥
तो पिण मति अनुसारथी कहिवानो व्यवहार ॥ सा० ॥
सहसअठ्यासी विसेसरा कोडि तैंतीसा देव ॥ सा० ॥
तीरथ अंजड तेरजा सिवा चौरासी सेव ॥ सा० ॥
सेव तणा मिल हामठा एहना आही ठाण ॥ सा० ॥
गोत्र छाजहडे परगडो कोठारी कचरेस ॥ सा० ॥
जात्र कराई जुगनसू सुजस वद्यो दस देस ॥ सा० ॥
संवत अठारह छगगा तणे विद आसाडवखाण ॥ सा० ॥
तिथ तेरस सुभ वामरे जात्र चढी परमाण ॥ सा० ॥

सवत् १७७० में महिमसुन्दर रचित "आबू बृहत्स्तवन" २४ में आबू तीर्थ के प्रति भक्ति भाव देखिये —

आबू सिखर सोहामणो भेटण रो मन भाव । लालरे ।
मन विहसे तन उलसै जेता तीरथ राव । ला० ।
काने सुणता वातड़ी जात्री कहता जेह । ला० ।
हरखगणो हियै हियै नयने निरख्यौ गेह । ला० ।
हियड़ो हींसे देखने आणद चित्त अथाह । ला० ।
चाहे नयण चीतारता सिवण तीरथ लाह । ला० ।
विध सू अरज भली करें करतां पातक जाय । ला० ।
सुख सपत्ति घरि सधि मिलें जगत श्रयीजस थाय । ला० ।
पातग दूर जग परिगड़ो सुखकर निरखो देव । ला० ।
रूप रस भर नागर सदा धराधर नित सेव । ला० ।

× × +

गु यथप आन तणी घड़ी जी दिन उगो भलो आज ।
जनम सफल मांहरो हियैं निरख्यां श्री जिणराज ॥

संवत् १५८० में नयण रंग रचित 'आबू स्तवन' में —

बालम ने विगती करै हो लाल गिरूपै गिर आस्यां ।

वणता वारंवार हो मनमोहना लाल । गि .... ।
आदि सर अरि हन्तणी हो लाल । गरू पै सेवां करस्यां सार हो । मन ।
आबू तीरथ अति भलो हो लाल । गिर जांणे सकल संसार हो । मन ।
अधि की महिमा एहनी हो लाल गिर सेवतां सुखकर हो । मन.....
दिल लागो इण डूंगरे चित लागो चरणे हो ॥ दिल......
आंबा नींबू आंवली वा चांपो जूही जाय रे ॥ वा......
क्रमदा करूणा केवतकी दीठां आवेदाय ॥ वा .....

केवल यात्रा एवं जैन मंदिरो के वर्णन करने वाले स्तवन एवं तीर्थ मालाएँ आदि तो राजस्थानी कवियों के रचित अनेक है। विशेष उल्लेख योग्य बात यह है कि राजस्थान में आबू तीर्थ की पूजा बड़े धूम धाम से की जाती है। आबू के पुराने चित्र अनेक मन्दिरों आदिमें लगे है। बीकानेर के कवि सुमति मंडल कवि की आबू पूजा का प्रचार राजस्थान में ही नहीं खरतर गच्छ के समस्त भारतवर्षीय क्षेत्रों मे है।

अन्त में आबू के सम्बन्ध में राजस्थान के विद्वानों के रचित जितनी रचनाएँ मुझे सहज ही में ज्ञात हुई है उनकी सूची दे देता हूँ इनमें से अधिकांश रचनाएँ मेरे संग्रह में हैं। खोज करने पर और भी अनेक मिलेंगी।

आबू विषयक राजस्थानी विद्वानों की रचनाएँ

१ आबू वर्णनात्मक आबू शैली री गजल। पद्य ६५। पनजी सुत चेलो। सं० १६०६ वैशाख वदि ३ (जिन विजयजी के गुटके मे)
२ आबू छंद रूप आबू के जैन मन्दिरों के स्तवन
३ अबुर्दालंकार आदि जिन स्तवन श्लोक १५ जिनरत्न सूरि।
४ अबुर्दालंकार नेमिनाथ स्तोत्र श्लोक २४ तरूण प्रभसूरि।
५ अबुर्दगिरि बिम्ब परिमाण स्त० गा० २२ रत्नसुन्दर।
६ अबुर्द चैत्र परिपाटी नन्नसूरि।
७ आबू स्तवन राजसमुद्र।
८ आबू तीर्थ स्तवन गा० ७ सं० १६५७ जिनसिंह सूरि समय सुंदर सहयात्रा।
९ " " गा० ६ सं० १६७८ " "

१० अर्बुद शिखर चैत्य परिपाटी गा० १४ हीरानंद सूरि।
११ अर्बुद तीर्थ विज्ञप्ति गा० १३ जयसागर।
१२ अर्बुद सघ तीर्थ माला गा० १७ (स० पूनराज सघ) लब्धिकल्लोल।
१३ आबू तीर्थ चैत्य परिपाटि गा० २१ (स०१६४१ जालोरसघ) लब्धि कल्लोल।
१४ अर्बुदाचल महात्मय स्त०गा० ३३ स० १७२६ प्रेमचद।
१५ आबू चैत्य परिपाटी ज्ञानसागर।
१६ अर्बुदाचल गीत, जिनसिंह सूरियात्रा शिव निधान।
१७ अर्बुदाचल पार्श्वनाथ, स्त०गा० ७ धर्मवर्धन।
१८ आबू बृहत्स्तवन, स०१७७० महिम सुन्दर।
१९ अर्बुदाचल स्तवन, गा०१६ जिनलाभ सूरी।
२० आबू आदि जिन स्तवन, गा०११ स०१६३४ क्षमा कल्याण।
२१ अर्बुदाचल तीर्थ बिंब सख्या स्त० गा० २३ स०१८२१ जिनलाभ रूपचद सूरि सहयात्रा।

२२ अर्बुदाचल तीर्थ गीत गा० २१ रूपचद।
२३ अर्बुदाचल पार्श्व स्त०गा०१६ स०१८६० आषाढ वदि १३ वरता।
२४ आबूतीर्थ माला स०१८६५ सीरोही में लिखित मुक्तिसूरि।
२५ आबू बृहत्स्तवन गा० २४ सं० १७७० महिमसुन्दर।
२६ आबू स्तवन गा०८ जिनसमुद्र सूरि।
२७ आबू ऋषभस्तवन गा० २१ स० १७६० नयणरग।
२८ आबू ऋषभस्तवन गा० १७ स० १८६६ दीपजय।
२९ आबू ऋषभ स्तवन गा० ६ शिव निधान।
३० आबूतीर्थ पूजा सुगुणचन्द्रोपाध्याय।
३१ आबू जैन तीर्थ के निर्माता ललितविजय।
३२ आबूगिरिराज अष्टक भँवरलाल नाहटा।

आबू के उल्लेख वाली राजस्थानी रचनाएँ।

१ पृथ्वीराज रासौ।
२ नैणसी री ख्यात।
३ दयालदासजी री ख्यात।
४ ढोला मारू रा दूहा।
५ वात सग्रह।
६ गढलसिंह वाराह रीरान।

७ वात राव मानै देवे ड़ैरी ।

८ वात सीरोही रे धणी री ।

६ वात हर राज रै नैणारी ।

१० कर्म चंद्र मंत्री वंश प्रवंध जयसोम । इत्यादि २

११ कर्म चंद्र मंत्र वंश प्रवंध वृत्ति. गुण विनय ।

१२ कर्म चंद्र मंत्र रास-गुण विनय ।

१३ शत्रुंजय यात्री संघ वर्णन सं० १६१६ गुणरंग ।

१४ „ „ „ हर्पनंदन ।

१५ „ „ „ गुणविनय ।

१६ पटवा यात्री संघ वर्णन अमर सिंधुर ।

१७ अरावली की आत्मा ।

१८ ठोकूजी कृत अ।बू युद्ध गीत ।

१६ सीरोही के टीकायतां पिरियावली आसियौ मालौ ।

२० खरतर गच्छ पट्टावली ।

२१ वर्धमान सूरि प्रवन्ध ।

२२ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह ।

२३ यतीन्द्र विहार दिगदर्शन ।

२४ विविध तीर्थ कल्प और तीर्थ मालाएं ।

रागविबोधकार सोमनाथ (१६०६ई०) के काव्य ग्रन्थ

[लेखक— श्री पी०के०गोडे, एम०ए०]

(क्यूरेटर, भडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ४)

सोमनाथ द्वारा प्रणीत 'रागविबोध' का सम्पादन श्री शास्त्री एस० सुब्रह्मण्य ने किया। श्री शास्त्री ने अपने सम्पादित ग्रथ की भूमिका में सोमनाथ के विषय में निम्न जानकारी प्रस्तुत की, जो 'रागविबोधकार' की टीका 'विवेक' (एडयार लाइब्रेरी १६४५) के आधार पर है —

१ 'रागविबोध' दक्षिण भारत में प्रचलित' कर्नाटकीय सगीत की महत्वपूर्ण कृति है।

२ सोमनाथ का काल १६ वीं, १७ वीं शताब्दी है और उसने अपना ग्रथ १८ सितम्बर १६०६ ई० को पूरा किया।

३ सोमनाथ का जन्म 'सकल कल' परिवार में हुआ। उसके पिता का नाम 'मुद्गल[1] सूरि' और पितामह का 'भेङ्गनाथ[2]' था।

---

१ अपनी टीका 'विवेक' के पृष्ठ ३ पर सोमनाथ अपने पिता के प्रति इस प्रकार श्रद्धांजलि अर्पित करता है —

"तथाच मन्मथम्—

तुन्देनीडु रगान माननरा। चद मरेद मिगो-
पेद पावननो गिग मर गुरु सर्वज्ञ मातारिश्वरा।

४ सोमनाथ आन्ध्रदेश वासी था ? (भूमिका पृ० १-२)

श्री रामास्वामी अय्यर (एम० एस०)[१] द्वारा सम्पादित 'रागविबोध' (मद्रास १९३३ ई०) की भूमिका में सोमनाथ और उसकी कृतियों के विषय में निम्न जानकारी मिलती है— (भूमिका पृ० १-२)

१ सोमनाथ आन्ध्र देशवासी था।

२ वह 'राज मुन्डी' अथवा उसके आसपास रहता था।

३ उसका जन्म 'सकल कल' परिवार में हुआ।

४ उसके पिता का नाम 'मुद्गलसूरि' और माता का 'भाम्पम्बा'[३] था।

५ उसके पितामह 'मेङ्गनाथ' थे।

६ 'रागविबोध' के अतिरिक्त सोमनाथ ने 'मीमांसा' पर एक टीका भी लिखी है, जिसका नाम 'सोमनाथीयम्'[४] है।

७ सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ 'रागविबोध' की समाप्ति तिथि सोमवार १८ सितम्बर १६०९ ई० लिखी है।

वेदाधारतया विधिं निधितबा भासां रविं भावय-
न्नेवं देवमयं गुरुं कुरु चिरं चित्ते स्थिरं मुद्गलम् ॥ इति ॥

२ मूल 'रागविबोध' के पृष्ठ ७ पर हमें निम्न पद्य मिलता है—

"सकलकलो पाख्य कुलः संख्यावन्नाथ मेङ्गनाथ जनेः ।
मुद्गलसूरे स्तनुज स्तनुधीरपि सोमनामाहम् ॥ २ ॥

३ टीका 'विवेक' के प्रारम्भ में सोमनाथ की माता 'भाम्पम्बा' और पिता 'मुद्गल' के विषय में निम्न पद्य मिलता है:—

"आर्या सूनुसमानं प्रणम्य मानं धरा सुरैः प्रवरैः ।
भम्पाम्ब यात्तमार्ग मुद्गलमाद्यम्बदं कलये ॥ २ ॥

यह पद्य इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि सोमनाथ की अन्य कृतियों में भी मिलता है, जिसे मैं इस निबन्ध में प्रमाणित करूँगा।

४ डॉ० राघवन् ने मुझे सूचित किया कि "सोमनाथीयम्" "शास्त्र दीपिका" की टीका "मयूख मालिका" है और इसका लेखक सोमनाथ 'रागविबोध' के रचयिता सोमनाथ से भिन्न है।

श्री ऑफ्रेक्ट (Aufrec) साहब की मान्यता है, कि सोमनाथ ने 'रागविबोध' और उसकी टीका 'विवेक' के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। किन्तु निम्न प्रमाणों से यह पता चलता है कि इस कर्नाटकीय संगीत पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता सोमनाथ ने कुछ संक्षिप्त काव्य ग्रन्थों की रचना भी की है, जिनमें से कुछ पाण्डु लिपियां विभिन्न पुस्तकालयों में मिलती हैं।

मैंने अभी डॉ० पी० कौकटी के 'स्मृत्याभिनन्दन ग्रन्थ' (स्मृति ग्रन्थ) में "यमलग्राम वासी सोमनाथ सकलकल (१७५० ई० से पूर्व) के काव्य ग्रन्थ" शीर्षक लेख लिखा था, जिसमें (मैंने) सोमनाथ के विषय में उसकी कविता के आधार पर निम्न जानकारी प्रस्तुत की —

१ उसका नाम सोमनाथ है।
२ उसका जन्म सकलकल' परिवार में हुआ।
३ वह यमलग्राम (जलग्राम) का निवासी है।
४ उसकी माता का नाम 'झापम्या' और पिता का 'मुद्‌गल' है।
५ उसने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की–

अ जातिमाला (दो पाण्डुलिपियां B O R इन्स्टीट्यूट में और एक ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा में)
ब अन्योक्ति मुक्तावलि (बीकानेर Mss नं० २८५)
स अन्योक्ति शतक (M S B 2 70 ऑफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित)
द वैराग्य सतक (काव्य माला c c I p 614)
व श्रृंगार वैराग्य मुक्तावलि (पेरिस D 260 c c I p 661)

निम्नलिखित जानकारी की समानता के आधार पर निस्सन्देह मैं यह कह सकता हूँ कि 'रागविबोध' और उसकी टीका 'विवेक' का रचयिता और 'जाति माला' तथा उपरोक्त अन्य ग्रंथों का रचयिता एक ही है —

१ नाम–सोमनाथ
२ परिवार–सकलकल
३ माता–झापम्या या झाम्पाता
४ पिता–मुद्‌गल

५ निम्न पद्य जो 'रागविबोध' (१६०६ ई०) में मिलता है वह 'जातिमाला' तथा अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है:—

आर्यां सूनुसमानं प्रणम्यमानं धरा सुरैः प्रवरैः ।
झम्पाम्ब यात्तमातं मुद्गलमालम्बदं कलये ॥

अब यह देखना है कि 'रागविबोध' के उपरोक्त दोनों सम्पादकों का यह कथन कि 'सोमनाथ' 'आन्ध्रदेशवासी' था, कहाँ तक सत्य है ? 'जातिमाला' के रचयिता ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि वह 'यमल ग्राम' (परिवर्तित-जलग्राम, Colophon में उल्लिखित) का निवासी है। क्या 'यमलग्राम' या 'जलग्राम' जैसा कोई स्थान आन्ध्रदेश मे है ? क्योंकि 'जलग्राम' या 'जलगांव' तो बम्बई प्रदेश के खानदेश जिले में है। साथ ही दूसरा प्रश्न यह भो उठता है कि क्या अभी आन्ध्र प्रदेश में ऐसा कोई परिवार भी है जिसे हम 'सोमनाथ के परिवार' सकलकल के समकक्ष बता सके ? हमे 'रागविबोध' में उल्लिखित सोमनाथ के पितामह 'मेङ्गनाथ' के विषय में भी मालूम करना चाहिये। मेङ्गनाथ के समान नामो का उल्लेख हमें इस प्रकार मिलता है:—

१ मेङ्गनाथ-' गीतगोविन्द' टीकाकार' " शेपकमलाकर का पिता (Aufrecht colP 466)

२ मेङ्गनाथ- (रामचन्द्र का पुत्र नृसिंहाराधन ' रत्नमाला' (६ अध्यायों में लिखित एक वैष्णव ग्रंथ) का लेखक,

---

५ Ms no 182 of 1879 80 (गीत गोविन्द टीका by शेप कमलाकर) टीका के प्रारम्भ में ५ वा पद्य है—

"पद वाक्य प्रमाणेषु प्रतिवादि विनोदिनं ।
पितंर मेगनाथाख्यं माल्फांवा च नमाम्यहं ॥ ५ ॥

इसमें उल्लिखित नाम " माल्फां (१) वा " को सोमनाथ की माता के नाम "झापाम्बा" से मिलाइये।

6 See pp 907-908, India office Mss Catologhe, put iv, 1894 Ms no 2610 dated Sambat 1829-- AD. 1773.

३ मेङ्गनाथ–[७] रूद्रानुष्ठान पद्धत्ति' का लेखक, 'सर्वज्ञ परिवार में उत्पन्न

क्या यह सम्भव है कि सोमनाथ (१६०६ ई०) के पितामह 'मेङ्गनाथ' उपरोक्त मेङ्गनाथों में से ही एक है ? मुझे तो यह प्रतीत होता है कि रूद्रानुष्ठान पद्धत्ति' का लेखक 'सर्वज्ञ परिवार में उत्पन्न मेङ्गनाथ और सकल कल परिवार के सोमनाथ के पितामह मेङ्गनाथ एक ही हैं किन्तु मेरे पास इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है कि 'सर्वज्ञ' परिवार ही 'सकल कल' परिवार है ।

श्री एम०कृष्णमाचारी ने अपने ग्रथ 'क्लासिकल सस्कृत लिट्रेचर (मद्रास १६३७-पृ० ८६६) में 'रागविबोध' कार सोमनाथ के विषय मे लिखा है कि वह सम्भव है गोदावरी जिले का कोई आन्ध्रवासी था, उन्होंने 'रागविबोध' के अतिरिक्त उसके किसी अन्य ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है ।

मेरे इस निबन्ध के सम्पूर्ण होने पर मेरे मित्र डॉ०वी० राघवन् ने मेरा ध्यान अपने निबन्ध–' The non musical works of some leading music writers(journal of music Academy Madras, val XX 1949 pp 152–154) की ओर आकर्षित किया । इस निबन्ध में डॉ०राघवन् ने सोमनाथ और उसके सगीत ग्रथ के अतिरिक्त ग्रन्थों के विषय में निम्न जानकारी प्रस्तुत की है —

१ सोमनाथ (१६०६ ई०) के दो काव्य ग्रथ (जिन्हे डॉ० राघवन् ने रोयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के सग्रह में देखा) ये है —

अ जातिमाला[८] (ग्रथ का विषय–नायिका भेद Ms No G 8267)

ब अन्योक्ति मुक्तावली[९] किसी सोमेश्वर द्वारा रचित किन्तु डॉ०

---

७ This work relies on महार्णव as the principal authority (Ms No 803 in Mitra s Notices Val II (See P V Kane s History of Dharmasastra Val I p 615)

८ मैंने 'जातिमाला' की हस्तलिखित प्रतियाँ देखी है ।

९ बीकानेर में 'अन्योक्ति मुक्तावलि' की एक प्रति है ।

(न० २८५ ऑफेक्ट द्वारा उल्लिखित)

राघवन् के अनुसार यह 'रागविबोध' कार सोमनाथ है (A Ms G 1096) यह मालिनि छन्द में रचित सौ छन्दों का संग्रह है।

उपरोक्त दोनो ग्रंथों की प्रतियां डॉ० राघवन् के पास सुरक्षित हैं, जिनका वे सम्पादन करने का विचार कर रहे हैं।

२ अपने 'रागविबोध' के पांचवे अध्याय के अन्त में रागों का वर्णन करते हुए सोमनाथ ने रागनियों (Female Ragas) के विषय में एक बड़ी अच्छी मजेदार बात लिखी है। प्रत्येक रागिनी का सम्बन्ध अपने ही प्रकार की विशेष नायिका से है। ये नायिकायें आठ प्रकार की हैं। यह विभाजन भी उनकी वय और प्रेम प्रवीणता के गुणो के आधार पर किये गये विभाजन के अनुसार ही है। यह प्रेम प्रकरण सोमनाथ के 'जातिमाला' से सम्बन्धित है जिसमें ५१ छन्द है।

उपर्युक्त विवेचन तथा मेरे प्रमाणों से 'रागविबोध' (१६०६) के रचयिता सोमनाथ और उसकी साहित्यिक कृतियों का एक सम्यग् परिचय विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत हो गया होगा। ऐसी मुझे आशा है।

अमरसार

(ले०—डॉ० दशरथ शर्मा)

[प्रस्तुत अमरसार ग्रन्थ की प्रति अब से करीब २० वर्ष पूर्व बीकानेर के यतिवर्य उपाध्याय जयचन्द्रजी के हस्तलिखित प्रतियों की सूची बनाते समय मेरे अवलोकन में आई थी, पर तब इसके ऐतिहासिक महत्व की ओर ध्यान नहीं गया था। अभी कुछ मास पूर्व उक्त सूची को अवलोकन करते हुए इस ग्रन्थ को देखना आवश्यक समझा। क्योंकि अभी तक इसकी अन्य प्रति कहां भी ज्ञात नहीं हो सकी। उदयपुर के महाराणा के सम्बन्धी उनके मन्त्री के बनवाये जाने पर भी पर भी इसकी प्रति उदयपुर के राजकीय सरस्वती भंडार में ज्ञात नहीं हो सकी। प्रति को निकलवा कर देखने पर उसका ऐतिहासिक महत्व विदित हुआ। अतः उसे मित्रवर डॉ० दशरथजी शर्मा को भेज दी गई। जिसका अध्ययन कर आपने यह महत्वपूर्ण लेख तैयार कर भेजने का कष्ट किया है।

महाराणा अमरसिंह की चर्चा एवं उनके मन्त्री डूंगरसी के वंश परिचय सम्बन्धी सामग्री अन्यत्र अप्राप्त होने से इसका महत्व निर्विवाद है।

प्रो० वेलणकर के जिनरत्न कोष में अमरसार नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख देखने में आया, जिसकी प्रति ईडर के जैन ज्ञान भंडार में है। उस प्रति को प्राप्त करने के लिए ईडर के एक जैन विद्वान द्वारा पत्र दिया गया, पर उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।

डा० दशरथजी के परवर्ती पत्र से ज्ञात हुआ कि महाराणा अमरसिंह सम्बन्धी अमरकाव्य नामक ऐतिहासिक काव्य की प्रतिलिपि उन्हें प्राप्त हुई है।

सम्पादक— अगरचन्द नाहटा]

'अमरसार' इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। राणा अमरसिंह (सन् १५९७ १६२०) की जीवन चर्चा पर कोई अन्य ग्रंथ इस से अधिक प्रकाश

नहीं डाल सकता। महाराणा के शौर्य कार्यों का इसमें विशेष वर्णन नहीं है। ग्रन्थकार ने केवल यही कह कर विषय की समाप्ति कर दी है कि उसने बालकपन में तुरुष्कराज को जीता, जिसका स्पष्टतः अभिप्राय यही है कि प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप के समय महाराज कुमार अमरसिंह ने कभी सम्राट अकबर की सेना को परास्त किया था। कवि ने यह भी लिखा है, कि अनेक देशों और दिशाओं के अधिपति राणा के सामने सिर झुकाते थे। फिरंगी भी उसके सेवक थे। किन्तु यह वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण है। अंग, वंग, कलिंग, मरहट्ट, गुर्जर, ग्वालियर, जालंधर, तैलंग, कलिग, वुगलाण, सोरठ आदि के राजा कभी मेवाड़ के अधीन न रहे हैं; इनमें से कई से तो शायद मेवाड़ का कभी कोई राजनैतिक संपर्क ही न हुआ हो।

राणा अमरसिंह के विश्वास पात्र व्यक्तियों का ग्रन्थ में अच्छा चित्रण है। हरिदास भूपति से मतलब हरिदास झाला से है। यही संभवतः राणा अमरसिंह के सबसे विश्वास पात्र व्यक्ति थे। तुजुके जहाँगीरी में हरिदास का नाम कई स्थानों पर आया है। जहाँगीर से संधि करते समय राणा ने हरिदास झाला और अपने मामा शुभकरण को शाहजादे खुर्रम के पास भेजा। सन् १६१५ में बादशाह ने हरिदास झाला को ५०००) रु०, एक घोड़ा और खिल्लत बख्शी और उसी के हाथ राणा के पास छः सुनहरी गुर्जे भेजीं।

डूंगरसी भी राणा का अच्छा विश्वास पात्र रहा होगा। वह नागोर का निवासी था। राणा अमरसिंह ने उसे सचिव पद पर नियुक्त किया। राणा कर्णसिंह और जगतसिंह के समय भी संभवतः वह राज सेवा मे रहा। उसके भाई प्रतापचन्द्र और कर्मचन्द्र के केवल नाम मात्र हमे अमरसार से मिलते है। डूंगरसी का पिता सार्थ दादा शंकर और पड़ दादा लटु था। डूँगरसी विद्वानों का संरक्षक रहा होगा। अमरसार जैसे ग्रन्थ का प्रणयन करवाना उसके विद्वत्प्रेम का किसी अंश मे परिचायक है। अनेक वैद्य, आगम शास्त्री आदि डूँगरसी के आश्रित थे। शायद उनसे भी डूंगरसी ने कुछ ग्रन्थो की रचना करवाई हो। कालिदास पुरोहित धन्वंतरी वैद्य और श्रीपतिव्यास महाराणा के अन्य विश्वास पात्र व्यक्ति थे। ये सभी विद्वान थे। धन्वंतरि ने महाराणा की आज्ञा से 'अमर विनोद' नाम का ग्रंथ बनाया। इसमे हाथियों के विषय मे बहुत सी बातें

लिखी हैं। अमरसार में भी महाराणा के हाथियों और घोड़ों का विशेष वर्णन इस बात का परिचायक है कि महाराणा को अपनी सेना के प्रत्येक अंग की अच्छी जानकारी थी। स्वर्गगत डॉ० श्री गौरीशंकर हीराचन्द ने धन्वन्तरि के वंश के परिचायक इन श्लोकों को अपने 'उदयपुर के इतिहास' में उद्धृत किया है —

वालाचार्य इति द्विज क्षिति भृता वृन्दे-रूपास्य ( ) क्षितौ,
विख्यात पर कार्य साधन पर सख्यावता मग्रणी।
आयुर्वेद विशारद ममभवच्छी चित्रकूटाधिप —
प्राणना मधि दैवत मद् सिय प्रत्यक्ष वाचस्पति। १०

तस्यात्मज सर्व गुणैक धामा
धन्वन्तरी धर्म धुरीण धुर्य-।
आज्ञाभ वाप्या मर भूमि यस्य
स्वन्गेश भापाभिरिद तनोति॥

'अमरसार' के वर्णन से भी यह स्पष्ट है कि महाराणा को धन्वन्तरि के आयुर्वेद-विशारदत्व में बहुत अधिक विश्वास था। उसके पिता के लिए ऊपर उद्धृत श्लोकों में चित्रकूटाधिपति के प्राणों के अधि-देवता नामके विशेषण का प्रयोग उसके कुल की ख्याति का अच्छा प्रमाण है।

युवराज कर्ण महाराणा कर्णसिंह के उत्तराधिकारी हुए। उनका राज्य काल सन् १६२० से १६२८ है। उनके भीम और सूर्यमल्ल नाम के दो भाइयों में से भीम ने राजपूत इतिहास में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। वह बादशाही सेना में मेवाड़ी दल का सेनापति और शाहजादे खुर्रम का मित्र था। जहांगीर ने खुर्रम के कहने से भीम को राजा की पदवी और बनास नदी के किनारे टोडे की जागीर दी। उसने यहाँ राजमहल नाम का नगर बसाया, जिसके खंडहरों की टॉडने प्रशंसा की है। भीम ने मलिक के अंबर को परास्त करने में खुर्रम की सहायता की। खुर्रम के विद्रोह करने पर भीम ने खुर्रम का साथ दिया। उसने पटने पर अधिकार जमा कर खुर्रम को शीघ्र ही बिहार का स्वामी बना दिया। काम्पट के युद्ध में जब खुर्रम का शाही सेना से सामना हुआ तो बादशाही सेना में ४०००० और खुर्रम की सेना में सिर्फ १०,००० सिपाही थे। सबने खुर्रम को पीछे हटने की सलाह दी।

किन्तु जो भीम पीछे हटने को राजपूती शान के खिलाफ समझता था, युद्ध हुआ। शाही सेना ने तीनों तरफ से शाहजादे की सेना को घेर लिया। भीम ने बिना परवाह किए शाही फौज पर धावा बोल दिया। राजपूतों की मार के सामने ठहरना आसान न था। किंतु शाही सेना के नायक शाहजादे परवेज के पास पहुंचते पहुंचते भीम की राजपूत सेना प्राय: नष्ट हो गई। भीम घिर गया, किंतु मरते दम तक उसने तलवार चलाई। (इकबाल नामा जहाँगीरी, इलियट और डाउसन खंड ६ पृष्ठ ४१४)। वीर भीम राजपूतों के साहस और शौर्य का प्रतीक है।

अमरसार में व्यक्तियों का जो कुछ वर्णन है वह इतिहास की दृष्टि से उपयोगी है। किंतु अमरसार का इस से भी अधिक महत्व इसमें है कि उसमें तत्कालीन सामाजिक आचार, विचार की हमें अच्छी झांकी मिलती है। इसी विचार से हमने अमरसार के इस भाग को संक्षिप्त रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

राणा अमरसिंह की जीवन चर्या का क्रम अर्थशास्त्र के आदर्श राजा की जीवन चर्या से कुछ मेल खाता है। शेरशाह की और अकबर की जीवनचर्या से भी हम इसकी तुलना कर सकते हैं। प्रतीत होता है कि राणा अमरसिंह ने प्रजा को खूब प्रसन्न रक्खा था। उनकी मातृभक्ति और धर्मभक्ति भी प्रशंसनीय थी। किंतु सब अन्य गुणों के रहते भी हमें राणा के जीवन में एक कमी प्रतीत होने लगती है; उनमें सुख के प्रति वह निस्पृहता नहीं है जो राणा प्रताप में थी और जिसने सदा के लिए राणाप्रताप के नाम को स्वर्णाक्षरों में लिख दिया है।

मेवाड़ के इतिहास के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रायः इतिहास के सभी अंगों के लिए अमरसार उपयोगी ग्रंथ है। राणा अमरसिंह की सभा के अन्य विद्वद्रत्नों ने भी उस समय के हमारे साहित्य की अच्छी वृद्धि की है। इन सब का पूर्ण उपयोग किए बिना हमारा मेवाड़ के इतिहास का ज्ञान अधूरा रहेगा।

अमरसार का सार

अमरसार के प्रथम तीन श्लोक नमस्कारात्मक हैं। इसके बाद सात श्लोकों में अमरसिंह की विभूति का वर्णन करने में अपने आपको असमर्थ बतलाते हुए कवि ने अपने गर्व का परिहार किया है। तेरहवें श्लोक से कवि ने उत्पत्ति का

राणा अमरसिंह के सौभाग्यवान कर्ण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। राणा अमर ने उसे युवराज पद दिया, राणा के दूसरे पुत्र का नाम भीमसिंह और तीसरे का सूर्य्यमल्ल था। पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम दिशा के राजाओं ने अमरसिंह के सामने सिर झुकाया। चौड़, गौड़, वंग, कलिंग, मरहठ, मलिंध्र (?) गुर्जर, अश्ववर (?) और वाग्वर (?) के राजा अमरसिंह के चरण कमलों की सेवा करते हैं। मारवाड़ के क्षत्रिय, नेपाल और गोपाचल (ग्वालियर) के राजा जालंधर, तैलंग और कलिंग, और शूर सेन देशवाले अमरसिंह की नौकरी बजाते हैं। नागर चाल, बुगलाण, बहराम, मरहठ, मालव और तौलव देशों में उत्पन्न विक्रमाश्व राज (विक्रमादित्य ?) के पुत्र और सौरठ आदि देशो के सुभट हर तरह राणा अमरसिंह को प्रसन्न करते हैं। उसके असंख्य मदमस्त हाथियों, घोड़ों, रथो-बैलों, और सेवको से विद्याधरो का मार्ग रुद्ध होता है। समुद्र पार से आए फिरंगी उसे जल क्रीड़ा करवाते है। कच्छ-सिंध, सुहलार (?) और झालावाड़ के राजा उसे प्रसन्न करते हैं। (श्लोक २१४-२६४)

राणा अमरसिंह ने हरिदास भूपति को अपना सेनाधिकारी बनाया, उसको दलाधिकार देकर अमरसिंह आनंद करते हैं। मंत्रणा, शस्त्र, गज, अश्वपाणि और पुरुषो की परीक्षा कला विज्ञान, शिल्प और लिपि मे हरिदास अद्वितीय था।

सुपुण्य बुद्धि डूँगरसी को अमरसिंह ने अपना प्रधान अमात्य बनाया (श्लोक २७७)। उसको जानकर अतुल बलयुक्त म्लेच्छ राजाओं ने ऐश्वर्यका मान छोड़ दिया और वैरी राजाओं ने भय के मारे ननों में शरण ली। डूँगरसी ने अनेक दानशालाएँ स्थापित की। युद्ध मे उसने कोश साम, दाम, भेद और दंडबल का सफल प्रयोग किया था।

अमरसिंह के पुरोहित का नाम कासीदास था, वह सब पौरोहित्य विद्याओं मे निपुण था। (श्लोक २१६)। अमरसिंह सब धर्म कार्य उसकी सलाह से करता। इसी प्रकार उसके धन्वन्तरि नाम का वैद्य था।

राजा अमरसिंह सप्तांग से युक्त हो कर आनन्द और ऐश्वर्य का भोग करता। उसके अनेक सुन्दराति सुन्दर रानियाँ थीं, किन्तु वे कवि के लिए मातृवत् हैं। इस लिए उनका वर्णन कवि ने नही किया।

३२२ वें श्लोक से राणा के सुख का वर्णन है। सुबह होते ही नगाड़े बजते, राजा राणा को नमस्कार करते, प्रामाणिक गायन होता, राणा सोने के सिंहासन से उठकर स्वर्णाङ्कित पादुका धारण करता और भृत्यों को दर्शन देता, काय शुद्धि के बाद स्नान होता। राणा शिवालय जाता, कर्पूर, केशर, चन्दनादि से पूजन करता और उसके बाद श्रीपतिव्यास से पुराण कथा सुनता, राणा व्यास को अपना गुरु मानता था। श्रीपति शब्द तर्क, आगम, धर्मशास्त्र, भागवतादि पुराण, महाभारत और जाप्य होम विधि का अच्छा ज्ञाता था। राणा प्रात ही सुवर्ण आदि सौ गायों का दान देकर सभा में जाने की इच्छा करता, किन्तु वहाँ से पूर्व नित्य माँ की चरण वन्दना करता और उसकी आज्ञा लेकर सभा में जाता। राज सभा में राजाओं का प्रणाम स्वीकार करने के बाद अमरसिंह कार्य शुरू करता। शिवालय के लिए वह दान देता, उसके सामने दर्शन शास्त्रियों, वैय्याकरणों और साहित्यकारों की परीक्षा होती। वह प्रधान अमात्य से आय-व्यय को सुनता और हाथी घोड़ों के सारथियों को छुट्टी देता। घटा बज नेपर भोजन का समय जान कर वह भोजनालय में जाता और भाइयों, मित्रों और अपने उच्च पदस्थ भृत्यों सहित भोजन करता। ब्राह्मणों के लिए वह अनेक प्रकार के भोजन भिजवाता। फेणी, मण्डक, बड़े, घेवर, दाडिम, द्राक्षा और खजूर के शाक, आम, नींबू और पेठे से सुरस भोजन सुख का विस्तार करता। नौकर उसके भोजन पात्र को कर्ण शष्कु (?) लूचियों, स्नानों लड्डुओं और अनेक गौ रसों से पूर्ण करते (श्लोक ३४४) चन्द्र के समान धवल भात स्वर्णवर्ण वाले गो घृत, दाल, सुसस्कृत शाकादि का भोजन कर राणा इलायची आदि से सुगन्धित तीर्थों के जल का आचमन करता। ताम्बूल और सुपारी, कर्पूर, अगर, पुष्प आदि से मुख को शुद्ध कर राणा सौख्यस्थान मे जाता और शयन करता। शयन करने के बाद वह अन्त पुर की अधिकर्त्री से अन्त पुर के बारे में पूछता।

तीसरे प्रहर वह सैन्य का निरीक्षण करता और उसके चातुर्य की अनेक प्रकार से परीक्षा करता। सायकाल के समय राजद्वार पर दीपों को प्रणाम करता। स्त्रियाँ आरती युक्त गोपियों को लाकर मांगल्याचरण करती इसके बाद इन्द्रा-कुमार सभा में ठहर कर राणा अपने महलों में जाता। वहाँ सब भोग सामग्री तैयार रहती, वेश्याएँ नृत्य करती, बाद्य बजते, चारों तरफ ताम्बूल आदि की सुगध

फैलती। नाटक खेले जाते। पट्टाभिषेक से पूर्व राणा ने अनेक सुंदर कन्याओं से विवाह किया था। वे उसके लिए ऐसी सुख दायिनी थीं जैसे कि शचि इन्द्र के या रमा हरि के लिए।

कभी राजा मत्त हाथियों का युद्ध करवाता, कभी मल्लों की कुश्ती, कभी अनेक पुराने विनोदों द्वारा अपना समय बिताता। कभी हाथी पर चढ़ कर वसंत काल में वनों मे जाता। कभी वह घोड़े की सवारी करता, कभी पालकी में बैठता, ग्रीष्मऋतु में वह जल क्रीड़ा करता, बरसात में वह अपने अगर, धूप से सुवासित महलों में अपनी ललनाओं से आनंद करता। शरद्, हिम और शिशिर भी इसी तरह आनंद में बीततीं।

इन्हीं राणा अमरसिंह के सन्मंत्री डूंगरसिंह ने इस अमर सार की रचना करवाई। (श्लोक ४३२)। ४३४ वे श्लोक के बाद प्रथम अधिकार की समाप्ति इन शब्दों से है "इति श्री अमर सारे सकल (?) मात्य मुख्य सा श्री डूंगरसा कारापिते यशोवर्णा ने नाम प्रथमोधिकारः समाप्त"

नीति खंड में ३२० श्लोक हैं; किंतु इतिहास की दृष्टि से यह विशेष उपयोगी नहीं है। अंतिम श्लोक डूंगरसी की प्रशंसा मे है।

धर्म खंड मे सर्व प्रथम शिव को नमस्कार है और उसके बाद गणेश को तदनन्तर धर्म की प्रशंसा है। २४१ वें श्लोक मे इस विषय की समाप्ति है। खंड के अंतिम श्लोको मे डूंगरसी के वंश आदि का वर्णन है।

मारवाड़ देश मे नागौर नाम का नगर है। उसमे सब वणिक लोगो का अधीश लद्दु नाम का व्यक्ति था, उसके शंकर नाम का पुत्र हुआ। उसके सार्थ नाम का पुत्र और सार्थ के तीन पुत्र हुए, डूंगरसी, प्रताप और कर्मचंद। डूंगरसी को राणा अमरसिंह ने सचिव पद दिया।

उसके बाद कुछ और श्लोक है जो ग्रंथ रचना के कुछ वर्ष बाद शायद जोड़ेगए हैं। इनमें अमरसिंह के पौत्र महाराणा जगतसिंह का वर्णन है। श्लोक२४५ में जगतसिंह पट्टोदय का निर्देश होने के कारण यह संभव है कि प्रायः उसी समय इन श्लोको की रचना हुई हो। श्लोक २५० के अनुसार भगवान ने राणाओं के अतिरिक्त सब

को स्वामी भक्त बनाया है, किंतु जगत्सिंह का तेज म्लेच्छों के लिए भी असह्य है। उसके सुख कर राज्य में डूँगरसी अपने अधीश की सेवा में तत्पर था।

अनेक पाण्डित्य, वैद्यक, आगम आदि के विद्वान डूँगरसी के आश्रय में रहते, उनमें से जीवधर नाम के पडित ने इसके उपदेश से अमरसार नाम के ग्रन्थ की रचना की (श्लोक २६१)। यह ग्रंथ सवत् १६५२ फाल्गुन शुक्ला पचमी के दिन (शशिकला, द्वियुग बाण) पूर्ण हुआ [1]।

इस प्रति का लेखन सवत् १६६७ आषाढ शुक्ल पक्ष-प्रतिपदा तिथि, बुधवार है। लेखन का स्थान उदयपुर है।

---

१ इस ग्रंथ का निर्माण काल सवत् १६५२ फाल्गुन शु० ५ पचमी (नहीं हो सकता) क्योंकि इस समय तो महाराणा अमरसिंह का पिता सुप्रसिद्ध महाराणा प्रतापसिंह विद्यमान था, जिसका निर्वाण वि० स० १६५३ माघ सुदि ११ को चावड गाँव में हुआ। डॉ० दशरथ शर्मा ने 'शशिकला द्वियुग बाण'' का अर्थ १६५२ किया है, किंतु यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। शशिकला का अर्थ सोलह और द्वियुग की सधि करलें तो ६ तथा गुणन करलें तो ८ एव बाण का अर्थ ५ होगा। इस विचार धारा से वि० स० १६६५ अथवा स० १६८५ विक्रमी इसका रचना काल हो सकता है, जो महाराणा अमरसिंह के राज्य काल को देखते हुए उचित ही है। फिर भी अधिकतया इसकी रचना वि० स० १६६५ में होनी ही सभव है।

"चेतावणी रा चूंगट्या" और पुरोहित देवनाथजी

(ले०ठाकुर ईश्वरदान आशिया, मेंगटिया–मेवाड़)

[उक्त लेख में लेखक ने श्री केसरीसिंहजी बारहठ द्वारा स्व० श्रीमहाराणा फतहसिंहजी को लिखे गये तेरह सोरठों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। उक्त 'सोरठे' श्री महाराणा फतहसिंहजी को दिल्ली से उदयपुर खींच लाये, क्या यह केवल मनगढ़ंत है या प्रामाणिक बात मानी जानी चाहिये–विषय पर विद्वान लेखक ने अपने विचार प्रमाणों के आधार पर प्रकट किये हैं। लेख शोधपूर्ण होते हुए भी आकर्षक है–पठनीय है। —सम्पादक]

"शोध-पत्रिका" के सं० २००८ के पौष के अंक मे श्री मनोहर शर्मा एम०ए० के "राजस्थानी साहित्य–भारत की आवाज" शीर्षक लेख में स्व० ठाकुर केसरीसिंहजी बारहठ (कोटा) के "चेतावणी रा चूंगट्या" नाम से प्रख्यात तेरह सोरठों मे से सात और इसी पत्रिका के सं० २००९ के चैत्र के अंक मे इन्हीं लेखक के "राजस्थान के ऐतिहासिक दोहे" शीर्षक लेख मे दो सोरठे दिये गये हैं। इनमें से पिछले दो सोरठो को लक्ष्य कर उदयपुर के पुरोहित देवनाथजी ने "शोध-पत्रिका" के सम्पादको के नाम एक पत्र लिख कर बताया कि अब तक लोग जो यह मानते आ रहे हैं कि ये सोरठे महाराणा फतहसिंहजी के पास उन्हे लॉर्ड कर्जन के दिल्ली दरबार मे सम्मिलित नही होने की प्रेरणा के उद्देश्य से बारहठ केसरीसिंहजी द्वारा भेजे गये थे— भ्रम मात्र है, निरी कवि–कल्पना है। सम्पादकगण ने भी इस महत्त्वपूर्ण शोध को प्रकाश में लाना आवश्यक समझ कर पुरोहितजी के प्रतिष्ठित व्यक्तित्व की परिचयात्मक अपनी टिप्पणी के साथ शोध पत्रिका के सं०२००९ के आषाढ़ के अंक मे उक्त पत्र का सारांश प्रकाशित किया है।

बाद में इन्हीं पुरोहितजी महाराज को "शोध-पत्रिका" के स० २००६ के आश्विन के अंक में सीतामऊ महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंहजी के ग्रंथ "पूर्व-आधुनिक राजस्थान" सम्बन्धी अपने लेख में ये "चूंगट्ये" फिर याद आये और उन्होंने पुनः अपनी उसी बात को विस्तार के साथ दुहराई कि सोरठे ठा० केसरीसिंहजी बारहठ द्वारा महाराणा साहब फतहसिंहजी के पास नहीं भेजे गये थे। पुरोहितजी महाराज जैसे प्रतिष्ठित एवं वयोवृद्ध महोदय को सत्य से इन्कार करने की स्थिति पैदा करते देख मुझे तथा अन्य विद्वानों को दुःख हुआ। मेरा और स्व० ठाकुर साहिब का निजी सम्बन्ध होने के कारण मैं यह अधिक उचित समझता था कि कोई अन्य सज्जन इसकी प्रामाणिकता पर प्रकाश डालते लेकिन किसी ने ऐसा नहीं किया और मुझे ही इस विषय पर लिखना पड़ा।

पुरोहितजी महाराज ने "शोध पत्रिका" के उक्त दोनों अंकों में जो दलीलें दी हैं वे इस प्रकार हैं –

(१) "मैंने इन रोचक और महत्वपूर्ण दोहों के सम्बन्ध में पूछताछ की परन्तु कहीं उनका पता नहीं मिला।"

(२) "महाराणा फतहसिंहजी, लिखे हुए छोटे से कागज के टुकड़े तक को सम्हाल कर रखते थे, किन्तु उनके कॉन्फीडेंशियल दफ्तर में भी ये दोहे लिखे हुए नहीं मिले।"

(३) "लॉर्ड कर्जन के जमाने में गवर्नमेंट के विरुद्ध बोलने की किसी में ताकत न थी।"

(४) "महाराणा फतहसिंहजी जैसे गुणाभिमानी राणा को "चेतावणी रा चूंगट्या" दोहा भिजवाने की क्या जरूरत पड़ आई।"

(५) "इन दोहों को भी केसरीसिंहजी बारहठ द्वारा भेजने की बात पर वही विश्वास कर सकता है, जो उन महाराणा की सेवा में न रहा हो, परन्तु उन व्यक्तियों को जो प्रत्येक समय में महाराणा के पास रहते थे, उनको बारहठजी द्वारा भिजवाने की बात पर विश्वास नहीं होता।"

(६) "कोई प्रमाण नहीं मिलता" कि ये दोहे श्री केसरीसिंहजी के द्वारा

महाराणा फतहसिंहजी के पास भेजे गये हों।

अब हम एक एक को लेकर देखें कि ये सूचनायें भी पुरोहितजी के मत की कहां तक पुष्टि करती है:-

(१) महदाश्चर्य ! पुरोहितजी महाराज को इन सोरठों का कहीं पता तक न लगा ! अच्छा होता पुरोहितजी महाराज यह बता देते कि उन्होंने पूछताछ कहां और किससे की ? शायद पुरोहितजी महाराज ने जानबूझ कर ऐसी ही जगह पूछताछ की जहां से ये न मिल सकें। अन्यथा कोई कारण नहीं कि उन्हें ये न मिलते, क्योंकि अपनी मार्मिकता एवं महत्त्व के कारण ये सोरठे राजस्थान एवं उसके बाहिर भी सुप्रसिद्ध होने से सैकड़ों लोगों के पास लिखे हुए मिल सकते हैं और कई ग्रंथो एवं अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं में ये प्रकाशित हो चुके है।

(२) भले ही महाराणा सा० बकौल पुरोहितजी महाराज के दो पंक्तियों के कागज के टुकड़े को भी सुरक्षित रखने का ध्यान रखते हों परन्तु कोई कागज उनके पास भेजा गया हो और आज पचास वर्ष बाद यदि वह उनके कॉन्फीडेंशियल दफ्तर मे नहीं मिलता है तो इसका मतलब यह तो हर्गिज नहीं हो सकता कि वह कागज भेजा ही नहीं गया और क्या यह संभव नहीं कि वह कागज खो गया हो, फट कर नष्ट हो गया हो या तत्कालीन परिस्थिति के कारण या और ही किसी विचार से स्वयं महाराणा सा० ने ही उसे रेकर्ड मे रखना उचित न समझा हो ?

(३) पुरोहितजी महाराज की स्मरण शक्ति (या, बुरा न माने तो, अल्पज्ञता) पर किसे तरस न आवेगा। वे भूल रहे हैं या उन्हे मालूम ही नहीं कि वह लॉर्ड कर्जन ही का जमना था जब गवर्नमेंट के विरुद्ध उग्र रूप से बोलना भारतीयों ने शुरू किया था। बोलना ही क्यो ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फैंकने के आतंकपूर्ण कार्यो का श्रीगणेश भी मुख्यतया लॉर्ड कर्जन ही के जमाने मे हुआ था। वह लॉर्ड कर्जन ही का जमाना था जब देशभक्त भारतीय युवको-युवकों ही क्यों बालको तक ने मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट के अफसरों को मौत के घाट उतार कर स्वयं बलिवेदी पर चढ़ जाने की दीक्षा लेना शुरू किया था। यह बात दूसरी है कि भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों के समान इस प्रकार के वीरोचित कार्य की तो क्या, गवर्नमेंट के विरुद्ध बोलने तक की भी कल्पना किसी

राजस्थानी के लिये पुरोहित महाराज न कर सके।

किन्तु पुरोहित महाराज ही तो लिखते हैं कि "महाराणा अपनी श्रेणी, स्थान आदि का उजर कर रहे थे।" क्या यह गवर्नमेंट के विरुद्ध बोलना न था? महाराणा सा० की तो बहुत बड़ी हस्ती थी,-इन सोरठों-"चेतावणी रा चूंगट्या" के रचयिता भी गवर्नमेंट के विरुद्ध बोल सकते थे। इसकी साक्षी ये सोरठे ही दे रहे हैं। यही नहीं, ठा० केसरीसिंहजी के जीवन की और भी ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, जिससे यह सिद्ध हो कि वे गवर्नमेंट के विरुद्ध बोल सकते थे, किन्तु विस्तार भय के कारण भारतीय-संस्कृति-संसद् कोटा के मुखपत्र "विकास" के सं० २००४ के श्रावणी पूर्णिमा के अङ्क के पृष्ठ ३ पर अंकित कुछ पंक्तियों को यहाँ उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा-

"ब्रिटिश सरकार की आँखों में वे (ठा० केसरीसिंहजी) सदैव काटे की तरह खटकते रहे। सन् १६०३ में लॉर्ड कर्जन जब दिल्ली दरबार के सम्बन्ध में कोटा आये तब तत्कालीन महाराव श्री उम्मेदसिंहजी ने श्री बारहठजी की एक लम्बी रचना (कुसुमांजलि) भेंट की, कर्जन उस रचना को अपने साथ ले गया और कुछ दिन पश्चात् महाराव साहब को लिखा कि आपके कवि की रचना एक संस्कृत के विद्वान् को दिखलाई। उसकी सम्मति में उसकी प्रत्येक पंक्ति का प्रत्यक्ष अर्थ तो ब्रिटिश शासन का प्रशंसात्मक है परन्तु गूढार्थ में यह शासन की कठोर निन्दा से भरी हुई है। इसलिये इसे प्रकाशित करने में विवशता है।" इस बात से जहाँ बारहठजी की अद्भुत काव्य प्रतिभा का परिचय मिलता है वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि लॉर्ड कर्जन भी उनके क्रान्तिकारी विचारों से अवगत हो चुका था। सच तो यह है कि बारहठजी जैसे देशभक्त वीर की लेखनी से ब्रिटिश शासन की प्रशंसा निकल ही नहीं सकती थी। अपने आश्रयदाता के सम्मान की रक्षा के लिये ही उन्होंने द्वाश्रय काव्य की रचना की।

"चेतावणी रा चूंगट्या" तो बारहठजी की अमर रचना है। जो महान् कार्य बीकानेर के कविराज पृथ्वीराज (राठौड़) के कुछ दोहों ने महाराणा प्रताप को अकबर की अधीनता स्वीकार करने से विरत करके किया था, वही कार्य बारहठजी के इन तेरह सोरठों ने किया जो "चेतावणी रा चूंगट्या" नाम से

प्रसिद्ध हैं। सन् १९०३ के दिल्ली दरबार में सम्मिलित होने के लिये जब उदयपुर के महाराणा फतहसिंहजी दिल्ली जाने को तैयार हुए, तब उन्हें ये सोरठे रेल में मिले।.......... .... बारहठजी की इस रचना का एक एक शब्द प्राणप्रद और अनमोल है।"

(४) मैं भी मानता हूँ और कोई भी, जिसने महाराणा फतहसिंहजी के क्षत्रिय राजोचित प्रतापी व्यक्तित्व को एक बार भी देखा है, मानेगा कि उन्हें अपने परम्परागत गौरव की रक्षा का कितना ध्यान रहता होगा और यही तो वह पात्रता थी जिसने इन सोरठों की रचना को सफल सिद्ध किया। अन्यथा कहने वालों ने तो यथावसर बाद में भी कमी नहीं रक्खी परन्तु क्या किसी के कान पर जूं तक रेंगी ? इन्हीं ठा० केसरीसिंहजी ने बरसों पहिले, बदलते हुए जमाने को देख कर नीचे दिये हुए राजस्थानी (डिंगल) पद्यों द्वारा कितने स्पष्ट और मार्मिक शब्दों में चेतावनी दी थी। परन्तु क्या किसी ने ध्यान दिया—

जीवण अहलो जाय, सहल सिकार सलाम में।
भांटी मौज उड़ाय, परजा बिलखै पेट नै॥

आपका जीवन सैर-सपाटे और शिकार आदि के फजूल कामों में व्यर्थ चला जा रहा है, लोग मौज उड़ा रहे हैं और आपकी प्रजा पेट भरने तक को बिलख रही है।

साझ्यौ वणकां साज, रजवट वट खोवै रधू।
रहसी नह ये राज, आज लगा जिण विध रह्या॥

आपने राजपूती बांकेपन को तिलांजलि देकर वणिक्‌जनोचित वृत्ति अङ्गीकार कर ली है। परन्तु निश्चय समझिये, इससे आपके ये राज्य अब तक बने रहे वैसे हर्गिज नहीं रहेंगे।

समय पलटतां जेज नहँ, जठ प्रजा झुंझलाय।
धर धूजण की बस चलै, पल मे महल ढहाय॥

जहाँ प्रजा अकुला उठती है वहाँ जमाने को बदलते देर नहीं लगती। आप ही सोचे, भूकम्प के समय किसका वश चल सकता है- निमेप मात्र मे बड़े २

प्रासाद भूमिसात् हो जाते हैं।

हुकमत गी पर हात, घर में खूणै घालिया।
बालक भी या बात, जाण चुक्या जग माहिनै ॥

आप अपने ही घर में एक कोने मे बिठा दिये गये हो, और सारी हुकूमत दूसरों के हाथ में चली गई है, इस बात को ससार में बालक तक जान चुके हैं।

रूस चीन जरमन तुरक, आदि हुता पतसाह।
वे सिंघासण कित गया, सोचीजै नरनाह ॥

क्या आप नहीं जानते कि तुर्की, जर्मनी, चीन और रूस आदि में भी बादशाह थे, किन्तु उनके वे सिंहासन आज कहां हैं? राजन्यवर्ग! जरा सोचिये।

आछा कामां उधमौ, बाणीया निज धन रास।
नहँ तो नेडा आवणा, महल मजूरां वास ॥

अब भी, विपुल सम्पत्ति के स्वामियों! अपनी धनराशि को दिल खोल कर जनहितकारी उत्तम कार्यों में लगा दो। नहीं तो, याद रखिये, इन महलों मे श्रमजीवियों के निवास के दिन समीप आते हुए दिखाई देंगे।

यदि कहने से ही काम बन जाता हो तो इन पद्यों का भी अभीष्ट परिणाम हो जाना चाहिये था। परन्तु कहाँ हुआ? उद्बोधक काव्य का सुफल तभी सभव है जब कवि, पृथ्वीराज राठौड जैसा हो तो उसके काव्य का आलबन भी महाराणा प्रताप सा हो। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता एव इतिहासकार सीतामऊ महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंहजी के शब्दों में "जब स्वाधीनता के लिए निरन्तर लड़ने वाले राणा प्रताप को भी पृथ्वीराज राठौड आवश्यक हुआ तब इन गिरे दिनों में पिछली परम्पराओं से बद्ध महाराणा फतहसिंह को "चेतावणी रा चूंगट्या" की आवश्यकता हो ही नहीं सकती थी यह कैसे कहा जा सकता है?"

मानवजीवन म ऐसे प्रसग आना असभव नहीं जब कि कर्त्तव्यनिर्धारण में व्यामोह की उत्पत्ति हो जाय। महाराणा फतहसिंहजी के जीवन में भी यदि वह प्रसग ऐसा ही था तो कोई अनहोनी बात न थी और ऐसे प्रसग पर वह व्यक्ति जो महाराणा का विश्वासभाजन रहा हो, जो उनकी कई अतरग राजनैतिक

गोष्ठियों में सक्रिय भाग ले चुका हो एवं जिसे पुरोहित महाराज के ही लेखानुसार महाराणा की यह दुविधापूर्ण मनोदशा कि "क्या करूँ" ज्ञात हो गई हो, उस समय यदि ये उद्बोधक सोरठे लिख भेजता है तो उन लोगों को जिन्हें ठा० केसरीसिंहजी की कर्त्तव्यपरायण निडर प्रकृति का थोड़ा सा भी परिचय है, बिलकुल स्वाभाविक बात मालूम होगी।

इतने पर भी कौन कहता है कि यदि ये सोरठे महाराणा को नहीं मिलते तो वे वह नहीं कर पाते जो उन्होंने किया। किन्तु यह भी कौन कह सकता है कि उन्हे इन सोरठों से अपने संकल्प की दृढ़ता में बल की संप्राप्ति नहीं हुई ?

(५) यद्यपि यह कोई दलील नहीं हो सकती कि किसको किस पर विश्वास है या नहीं है, फिर भी देखले कि पुरोहितजी महाराज के इस कथन में भी कितना सार है ? स्व० महाराणा सा० के एक पुरोहितजी महाराज ही ऐसे निकले हैं जो इस संबंध मे अपना अविश्वास प्रकट कर रहे हैं और कहते हैं कि उनके साथी लोगो को भी विश्वास नही होता। मालूम नहीं ऐसे कितने व्यक्ति हैं-अलावा इसके आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि आज से तेरह चौदह वर्ष पूर्व जब पुरोहित महाराज के हाथ में वह पुस्तक संशोधनार्थ दी गई, जिसमें ये "चेतावणी रा चूंगट्या" शीर्षक तेरहों सोरठे अर्थ सहित और संबंधित घटना के उल्लेख के साथ दिये गये हैं, तब तो पुरोहितजी महाराज ने एक शब्द भी विरोध सूचक नहीं कहा और आज यह विवाद उपस्थित कर रहे हैं। उस समय विश्वास और अब अविश्वास का कारण यही न कि उस समय महाराणा फतहसिंहजी नहीं तो भी ठा० केसरीसिंहजी विद्यमान थे और इस समय दोनो ही नहीं है।

(६) अल्प प्रयासेन प्रमाण भी जो उपलब्ध हो गये है वे इस प्रकार हैं:-

(१) स्वयं ठा० केसरीसिंहजी का वह लेख जो 'चेतावनी' शीर्षक से कलकत्ता के इंडस्ट्रियल गजट से बंबई के "वेंकटेश्वर समाचार" साप्ताहिक पत्र के १८ जनवरी, सन् १९३५ के अंक मे और सं० १९९७ मे अखिल-भारतीय-चारण-सम्मेलन के मुखपत्र "चारण" के वर्ष २ अंक ४ मे "एक सफल उद्बोधन" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इस लेख मे "चेतावणी रा चूंगट्या" के रचयिता ने

लिखा है-"ज्यो ही खबर मिली कि महाराणा दिल्ली जायेंगे ही, क्षात्र स्वातन्त्र्य के पुजारी एक चारण हृदय पर असह्य चोट पहुचना स्वाभाविक था। आंतरिक ज्वाला की प्रेरणा हुई-चाहे रुकें या न रुकें, महाराणा को क्षात्रस्वरूप का ज्ञान कराना ही चाहिए। इसी उद्देश्य को लेकर राजपूतों के लिये सुबोध और वीर रस में प्रभावशाली डिंगल (मरु) भाषा मे तेरह सोरठे उदयपुर लिख भेजे गये। सौ कोस से पत्र पहुचने में देरी अवश्य हो गई। दिल्ली की स्पेशल में बैठ जाने पर और चित्तौड़ से कुछ आगे बढ जाने पर स्पेशल में ही वे सोरठे महाराणा फतहसिहजी के हाथ में दिये गये और पढे गये। परम गंभीर महाराणा के मुँह से सहसा निकल ही पडा कि-"यदि ये सोरठे उदयपुर में मिल जाते तो हम वहाँ से रवाना ही नहीं होते।"

(२) यह विदित होने पर कि जोबनेर ठाकुर सा० नरेन्द्रसिंहजी (भू० पू० मेंबर स्टे० कौं० जयपुर को भी इस सबध में वकफियत है, मैंने श्री अक्षयसिंहजी सा० रत्न द्वारा उनसे पुछवाया तो उत्तर में श्री अक्षयसिंहजी के ता० २१-३-५३ के अनुसार जोबनेर ठाकुर साहिब ने जो कुछ कहा वह इस प्रकार है-"जब स्वर्गीय महाराणा साहब दिल्ली दरबार के लिए जाने को थे, तब उन्हे ऐसा करने से रोकने के लिये ठा० सा० हरिसिंहजी जादू, ठा० सा० भूरसिंहजी मलसीसर, श्री उमरावसिंहजी जादू, कोटला (आगरा), ठा० सा० कर्णसिंहजी जोबनेर तथा केसरीसिंहजी कोटा की सयुक्त मत्रणा से लिखना निश्चित हुआ था और तदनुसार वे दोहे लिखे गये थे। जब उन दोहों के सत्परिणाम स्वरूप श्री महाराणा सा० दरबार में सम्मलित न होकर तत्काल लौट आये तो श्री कर्णसिंहजी नेजोबनेर ने ५ दोहों के द्वारा धन्यवाद दिया था। श्री महाराणा सा० के मरसियों में भी स्वय इन जोबनेर ठा० सा० ने उक्त भाव व्यक्त किये हैं।

(३) सीतामऊ महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंहजी सा० से पूछने पर उन्होंने अपने १५ मार्च, १९५३ के पत्र में मुझे सविस्तार जो कुछ लिखा है उसमें "पूर्व आधुनिक राजस्थान" में किये गये 'चेतावणी रा चूगट्या" सबधी उल्लेख का आधार इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मेरे उन कथनों का आधार प्रधानतया मैंने अपने पूज्य पिताजी तथा अन्य पुराने लोगों से सुनी बातें ही हैं। २० वीं शताब्दि के उन प्रारम्भिक वर्षों में

सीतामऊ और उदयपुर को पास लाने वाले कई व्यक्ति थे। व्यास शालिग्रामजी जो वैरिस्टर थे एवं जीवन के पिछले वर्षों में नाथद्वारा में प्रबन्धकर्त्ता या अन्य किसी उच्च पद पर थे, यहाँ प्रायः आया जाया करते थे एवं उनके द्वारा महाराणा फतहसिंहजी के जीवन की कई घटनाएँ और उनकी महत्त्वपूर्ण बातें यहाँ ज्ञात होती रहती थीं। इसी प्रकार वारहठ केसरीसिंहजी का भी सीतामऊ राज्य के एक दो चारण ठिकानों से बहुत ही निकट का सम्बन्ध था एवं केसरीसिंहजी की बातें यहाँ ज्ञात होती थीं। बारहठ केसरीसिंहजी का मेरे पिताजी से घनिष्ट परिचय एवं सम्बन्ध रहा है। अतएव उन्हें ये सारी बातें तब ही ज्ञात हो गई थीं और उनके बताने पर ही मैं यह घटना जान पाया।"

(४) कोठारी बलवन्तसिंहजी महाराणा सा० फतहसिंहजी के शासनकाल में दीवान के पद पर वर्षों तक प्रतिष्ठित रहे और जब महाराणा सा० लॉर्ड कर्जन के दरबार के सम्बन्ध मे दिल्ली पधारे तब वे दीवान की हैसियत से उनके साथ थे।

इन कोठारी बलवंतसिंहजी का जीवन चरित्र उनके सुयोग्य पौत्र श्री तेजसिंहजी कोठारी ने जो आजकल बूँदी में कलेक्टर एवं डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट हैं—लिखा है। यह ग्रन्थ संवत १९९६ में प्रकाशित हुआ है और इसकी प्रस्तावना ग्रंथ को आद्योपान्त पढ़ कर विख्यात इतिहासकार डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखी है। ठा० केसरीसिंहजी एवं ओझा का परस्पर पूर्ण परिचय था। इस ग्रंथ के संशोधन कार्य में स्वयं पुरोहित महाराज ने योग दिया है जैसा कि लेखक के "दो शब्द" की अंतिम पंक्तियो से स्पष्ट है।

इस ग्रंथ के पृष्ठ ७० से ७३ तक दिल्ली दरबार, महाराणा फतहसिंहजी, दीवान कोठारी बलवन्तसिंहजी और "चेतावणी रा चूंगटया" सम्बन्धी जो कुछ उल्लेख है वह इस प्रकार है-- "ता० १ जनवरी सन् १९०३ ईस्वी पौष शुक्ला २ सं० १९५९ को शाहनशाह सप्तम एडवर्ड की गद्दी नशीनी की खुशी में दिल्ली में एक बड़ा दरबार हुआ, जिसमे शाहनशाह के छोटे भाई ड्यूक ऑफ कनॉट और भारत के सब ही नरेश तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित हुए। भारतवर्ष के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कर्जन के विशेष आग्रह करने पर ता० ३० दिसम्बर सन् १९०२ ईस्वी पौष शुक्ला १ सं०१९५९ को श्री दरबार उदयपुर से पधारे। ता० ३१

दिसम्बर की रात्रि को दिल्ली पहुच गये। किन्तु अकस्मात खेद हो जाने से श्री दरबार को वापस उदयपुर आना पडा और दिल्ली दरबार में तो शरीक नहीं हो सके। राज्य की ओर से उमरावों को दरबार में भेजा गया उनमें कोठारीजी भी थे। ·· , इसी अवसर पर केसरीसिंहजी बारहठ ने निम्न दोहे लिखकर श्री दरबार में नजर कराये। किन्तु उदयपुर से रवानगी हो जाने के कारण ये दोहे दिल्ली पधारते समय अँग्रेजी डाक से स्टेशन सरेरी पर नजर हुए। वे ये हैं—(तेरहों सोरठे अर्थ सहित उद्धृत हैं)। ये उपर्युक्त दोहे दरबार ने सेलून में विराजे विराजे पढ कर कोठारीजी को पढने को बख्शे जो पढ कर वापिस नजर कर दिये।"

इस उपरोक्त उद्धरण के आधार के सबध में पूछने पर ग्रथकर्ता ने अपने ता० ८ अप्रेल १९५३ के पत्र में लिखा है-The couplot "Chetawani ra-Chungtia" mentioned in the book was on the basis of the description given by my roverred late grandfather Kothari sahib Shri Balwant singhji who was the P Minister of Udaipur and accompanging the late His Highniss the Maharana sahib shri Fateh singhji Bahadur on his way to Delhi, the some thing I have mentioned in the 'feewan Charitra" (मेरे पूज्य पितामह कोठारी सा० बलवतसिंहजी दीवान रियासत की हैसियत से उस समय महाराणा सा० श्री फतहसिंहजी के साथ थे, जब वे दिल्ली पधारे थे और "चेतावणी रा चूँगट्या" सम्बन्धी जो कुछ उल्लेख मैंने उनके "जीवन चरित्र" में किया है वह उन्हीं के कथन पर आधारित है।)

कोठारी बलवतसिंहजी की प्रामाणिकता के सबध में डॉ० गौरीशकर हीराचन्द ओझा द्वारा लिखित उपरोक्त प्रस्तावना में से ये शब्द उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा-"महाराणा की प्रकृति के अनुरूप पूरी जाच पडताल के बाद ही अपना मतव्य प्रकट करता था" (पृ० ४) वह बडा विवेकशील और गभीर था" (पृ०५) "उसके मुख से निकले हुए शब्द सदा नपे तुले होते थे और वह जो कार्य करता था, पूर्ण सोच विचार के साथ करता था, जिसमें कभी किसी को ऐतराज करने की गु जाइश न होती थी" (पृ० ६)

अब पाठक ही निर्णय करें पुरोहितजी महाराज देवनाथजी के कथन मे कितना तथ्य है और इस प्रकार जानबूझ कर सत्य का अपलाप करने के पीछे कौनसी मनोवृत्ति है ?

लोक-साहित्य का सार्वभौमत्व

"प्राचीन ऋषियों ने भी लोक-साहित्य का सार्व भौमत्व स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने वेदों और उपनिषदों में आध्यात्मिक सनातन-सिद्धान्तों को लोक-वार्ताओं के रूपक द्वारा प्रकट किया है। पुराण तो लोक-वार्ताओं के भण्डार हैं। भास, कालिदास आदि महाकवियों ने भी लोक-वार्ताओं का आश्रय लिया है। नीति-शास्त्र-विशारद आचार्य चाणक्य ने लोक-वार्ताओं का उपयोग करके ठोठ राजपुत्र को भी नीति-निपुण बना दिया था।

जब जब कवि-प्रतिभा मंद पड़ जाती है, प्रजा का उत्साह क्षीण होने लगता है और शिक्षा का निर्झर सूखने लगता है, तब तब देश के नेतागण इस लोक-साहित्य रूपी गंगोत्री के पास जाकर तपश्चर्या करते देखे गये हैं। चाहे शेक्सपियर से पूछो, चाहे शीलर से, वे यही कहेंगे कि लोक-साहित्य ही तुम्हारा गुरु है।

नीति शास्त्र, विवेक शास्त्र, साहित्य-शास्त्र और भाषा-शास्त्र के कृत्रिम नियमों का जहाँ बन्धन नहीं है और जहाँ मुनष्य के भावो का नैसर्गिक प्रवाह बिना किसी रुकावट के कलकल करता हुआ आगे बढ़ता है, वहीं लोक-साहित्य जन्म ग्रहण करता है। शिष्ट साहित्य मे भारी कला का प्रदर्शन किया जाता है, सुन्दर ओप के दर्शन भी वहाँ होते हैं किन्तु लोक-साहित्य की-सी सजीवता उसमें कहाँ? नैसर्गिक साहित्य जैसा प्राण उसमे कहाँ! अनेक प्रान्तो के अनेक युगों के और अनेक जातियों के लोगो की जिह्वा पर नृत्य करते-करते साहित्य में जो एक प्रकार की नैसर्गिक ओप आ जाती है, वह लौकिक होते हुए भी अलौकिक होती है। हमारी शिक्षा भी यदि लोक-साहित्य पर आश्रित हो तभी वह सच्ची शिक्षा कहला

सकती है। हमारे देश में जहाँ राज्याश्रित कवियों ने शब्दालंकार और अर्थालङ्कार की कसरत करके दिखलाई थी, वहाँ अशिक्षित किन्तु संस्कारी जन-समुदाय द्वारा एक दूसरे ही प्रकार के साहित्य की सृष्टि हुई थी। यह साहित्य कहाँ से आया और किसने प्रारम्भ किया इसको ? सच तो यह है कि जहाँ से राष्ट्र के स्वभाव का निर्माण हुआ, वहीं से इस साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। जिसके अन्दर समाज के प्राण का स्फुरण हुआ, उसी ने इस साहित्य की सृष्टि भी की। इस साहित्य द्वारा यदि शिक्षा दीजाय तो बच्चे अपने समाज को भली-भाँति समझ सकेंगे और तभी वे उसके सच्चे सेवक या प्रभु बन सकेंगे।"

(काका कालेलकर के एक लेख के आधार पर)

—कन्हैयालाल सहल

राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण

स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् देश के शासकों, विद्वानों और विचारकों का ध्यान राष्ट्रीय भावना के विकास एवं विस्तार की ओर आकर्षित हुआ। स्वाधीनता की जड़ों को गहरा और सुदृढ बनाने के लिये राष्ट्रीय विचारधारा के प्रचार-प्रसार तथा उसके लिये शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी समझा गया। साहित्य, कला एव राजनीति के प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीयता के नवनिर्माण तथा विकास की माँग दिन प्रति दिन अधिकाधिक होती गई और आज इसकी आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जा रही है।

इसी दृष्टि से देश के शासकों और प्रमुख नेताओं ने राष्ट्रीय इतिहास लिखने के लिये एक केन्द्रीय कमेटी का निर्माण किया है तथा प्रान्तीय सरकारों ने भी अपने २ प्रान्त के लिये 'केन्द्रीय कमेटी' के निर्देशन में काम करने के लिये 'उपसमितियाँ' नियुक्त की हैं। अभी तक कमेटियों ने अपना काम प्रारम्भ नहीं किया है परन्तु कमेटी के सदस्यगण इस ओर सोचने लग गये हैं।

इतिहास हमारे सामाजिक जीवन का अभिन्न अग है और उसका व्यक्ति तथा समाज के नवनिर्माण में प्रमुख योग रहता है। अतीत की घटनाओं और कार्य-कलापों का देश की भावी पीढ़ी पर गहरा असर रहता है। देश की राष्ट्रीयता

के लिये पिछली डेढ़ शताब्दि से जो संघर्ष किये जाते रहे हैं और राष्ट्र तथा समाज पर उनका जो प्रभाव पड़ा है; उसका लेखा-जोखा इतिहास ही के करने का विषय है; हमारे राष्ट्रीय-संघर्ष का जो इतिहास लिखा जाने वाला है, वह ऐसा होना चाहिये, जो सभी इतिहासकारों के लिये मार्ग का निर्देश कर सके। इतिहास न केवल संघर्षात्मक घटनाओं का विवरण मात्र ही प्रस्तुत करता है अपितु साहित्य, कला और सामाजिक जीवन के उतार-चढ़ावों का सही सुन्दर एवं विश्लेषण कर परिणाम भी उपस्थित करता है। उन घटनाओं, सामाजिक उतरा-चढ़ावों एवं युगों के मोड़ों तथा दिशाओं के विश्लेषण के पश्चात् जो परिणाम सामने आते हैं, उनका जीवन-विकास में बहुत बड़ा महत्व है। उन्ही के द्वारा आने वाली सन्तति अपना मार्ग निश्चित करने का प्रयत्न करती है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, स्थूल और सूक्ष्म-दोनो तरह से वह समाज तथा व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालता है, इसलिये इतिहास समाज और व्यक्ति-दोनों के जीवन के लिये अनिवार्य और आवश्यक है। ऐसी स्थिति मे इतिहासकार को निरपेक्ष रह कर समाज और व्यक्ति के जीवन मे घटने वाली घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करना ही पड़ता है। यही कारण है कि इतिहास के निर्माण की ओर इतना अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

इतिहास न केवल घटनाओं, मोड़ो और दिशाओ की गति विधि पर ही आश्रित रहता है अपितु समाज और व्यक्ति की भावना तथा इच्छाओं का भी प्रतिविम्ब होता है। पिछली डेढ़ शताब्दी न केवल राष्ट्रीयता की संघर्ष की ही रही है अपितु कोटि कोटि व्यक्तियों के मनोमन्थन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रही है। इस शताब्दि का महत्व पिछले दो हजार वर्षो के इतिहास मे सबसे अधिक है और इस शताब्दि का असर आज पड़ रहा है तथा कल ओर भी अधिक पड़ेगा। इस शताब्दि का असर न केवल भारतीय जन जीवन पर ही पड़ा है अपितु इसका एशिया की समस्त जनता पर भी पड़ा है। इसके प्रभाव ने यूरोपीय जनता के जीवन को भी अछूता नहीं छोड़ा है। इसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी हो गया है।

यही वजह है कि राष्ट्रीय इतिहास पर इतना अधिक ध्यान दिया जा रहा है और समस्त प्रान्तो में कार्यारंभ किया जाने वाला है। इतिहास-निर्माण करने वाली केन्द्रीय-कमेटी के सामने यह एक कसौटी का प्रश्न है।

—गिरिधारीलाल शर्मा

प्रेरणा

आवश्यक व महत्वपूर्ण विषयों को केवल एक टुकडे में न छाप कर अपनी सपूर्णता के साथ स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक अंक में प्रकाशित करने वाली मासिक पत्रिका।

मौलिक कहानियों व कविताओं के अन्यथा कुछ समय तक के स्थायी विषयों की पहली किश्त

१ आलोचनात्मक लेख – •आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (निबंधकार के रूप में) •प्रेमचन्द के पात्र •शरत्बाबू •मीरा •कहानियों का यशपाल •हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ।

२ अनुवाद – •कॉडवेल की पुस्तक Studies in dying cultuts व एंटन चेखव की कहानी का अनुवाद •कामायनी व मेघदूत का राजस्थानी में अनुवाद।

३ राजस्थानी के लोक गीत •राजस्थानी मुक्तक •राजस्थान के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले चित्र।

सम्पादक कोमल कोठारी

एक प्रति १।)
वार्षिक १४

सोजती गेट
जोधपुर

साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर

प्रकाशित साहित्यः—

१. राजस्थानी भाषा
   श्रीयुत् डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, एम० ए०, डी० लिट्०, मूल्य २॥)

२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग—१
   श्रीयुत् डॉ० मोतीलाल मेनारिया, एम० ए०, मूल्य ३)

३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग—२
   श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा मूल्य ४)

४. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग—३
   श्रीयुत् उदयसिंह भटनागर, एम०ए० मूल्य ५॥)

५. मेवाड़ की कहावतें भाग—१
   श्रीयुत् पं० लक्ष्मीलाल जोशी, एम० ए०, एल-एल०, बी० मूल्य २)

६. नया चीन
   श्रीयुत् हुकमराज मेहता, बी०ए०, एल-एल०बी० मूल्य २॥)

७. मालवी कहावतें भाग—१
   श्रीयुत् रतनलाल मेहता, बी० ए०, एल-एल० बी० मूल्य २)

८. पूर्व आधुनिक राजस्थान मूल्य अजिल्द ६), सजिल्द ७)
   श्रीयुत् महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह, एम० ए०, डी० लिट्०, एल-एल० बी०

९. तुलसीदास [काव्य]
   श्रीयुत् कन्हैयालाल ओझा, एम०ए०, मूल्य १॥)

१०. शोध-पत्रिका भाग—१ मूल्य ६) रू०, भाग—२, ८) रु०, भाग ३ मूल्य १०) रुपया

११. आचार्य चाणक्य [नाटक] मूल्य २॥)
   श्रीयुत् पं० जनार्दनराय नागर, एम० ए०, साहित्यरत्न, विद्यालंकार

शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें—

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग ४.
   श्रीयुत् अगरचंद नाहटा,

२. राजस्थानी वार्ता भाग—१
   श्रीयुत् नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०

विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर

राजस्थान शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

ा ५ अङ्क २
म्बर ५२

इस अंक में:—

पृष्ठ
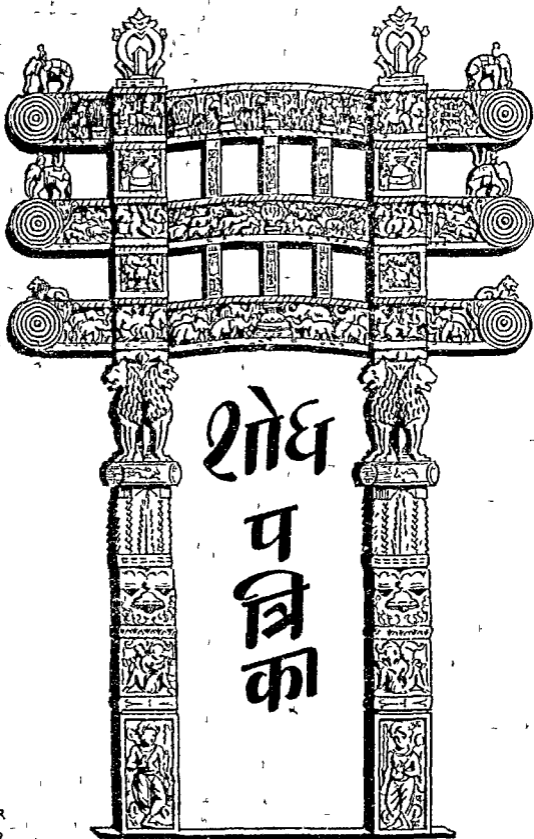
१ "मारवाड़ के शिलालेखों में मुद्रा सम्बन्धी सामग्री"

लेo श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए० — १

२ पाणिनि की दृष्टि में भाषा का स्वरूप

लेo श्री रामशंकर भट्टाचार्य — १३

३ राजस्थान के अभिलेख: जयपुर का राजकीय अभिलेख संग्रह

लेo डॉ० सत्यप्रकाश, जयपुर — २१

४ मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह की युद्ध नीति तथा रणकौशल

लेo आर्य श्री रामचन्द्र तिवारी M. A. L. L. B. — २८

५ सभ्यालंकरण ग्रन्थ और उसका रचयिता गोविन्द भट्ट

श्री नाथूलाल भागीरथ व्यास — ४३

६ पन्द्रहवीं शती की मेवाड़ में चित्रित एक विशिष्ट प्रति

श्री अगरचन्द नाहटा — ५८

७ सम्पादकीय—

राजस्थानी लोक-गीतों की स्वर-लिपि

श्री कन्हैयालाल सहल — ६३

"सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते"

शोध-पत्रिका

[साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ की
प्रमुख त्रैमासिक पत्रिका]

भाग ५	उदयपुर, पौष वि०सं० २०१०	अङ्क २

"मारवाड के शिलालेखो मे मुद्रा सम्बन्धी सामग्री"

(लेखक- श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम०ए० अध्यक्ष, पुरातत्त्व एव
सग्रहालय, जोधपुर विभाग, जोधपुर)

[राजस्थान के प्राचीन सग्रहालयों की सामग्री का अध्ययन किया जाय तो अनेक ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में आने की सम्पूर्ण समावना है। राजस्थान भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है, इसलिये यहाँ के विभिन्न जैन ग्रन्थालयों, राजकीय पुस्तकालयों एव यत्रतत्र बिखरे हुए ताम्रपत्रों और शिला लेखों का अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। जोधपुर राजकीय सग्रहालय और पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष श्री रत्नचन्द्रजी अग्रवाल ने प्रस्तुत निबन्ध में 'मारवाड के शिलालेखों में मुद्रा सम्बन्धी सामग्री' के बारे में प्रकाश डाला है। निबन्ध शोध-खोज पूर्ण सामग्री से सुलिखित है- इसलिये विद्वानों के लिये उपयोगी एव महत्वपूर्ण है— —सम्पादक]

मारवाड़ के किसी भी कोने से गुप्तकाल से पूर्वयुग का कोई भी शिलालेख व ताम्रपत्र नहीं प्राप्त हुआ है। मण्डोर (प्राचीन माण्डव्यपुर) के तोरण स्तम्भों में से एक पर कुछ गुप्तकालीन[1] अक्षरों में एक लेख उत्कीर्ण था परन्तु काल-चक्रगति से एक भी अक्षर नहीं पढ़ा जा सकता। इनके बाद के (पूर्व तथा उत्तरमध्यकालीन) शिलालेखों द्वारा मुद्रा सम्बन्धी सामग्री पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है अर्थात् -

---

१ कुछ विद्वान इस तोरण स्तम्भ को ९-१० वीं शताब्दि का मानते हैं परन्तु अक्षरों के ऊपरी भाग में त्रिकोणाकार चिन्ह अभी तक विद्यमान हैं तथा गुप्तकालीन लिपि की ओर ही संकेत करते हैं।

(अ) द्रम्म

१. द्रम्म शब्द का इतिहास एवं व्युत्पत्तिः—

तक्षशिला से प्राप्त खरोष्ठी लिपि के लेखों में "द्र" एवं "ध"[१], मध्यकालीन भारतीय लेखों में "द्रम्म" तो ग्रीक रजतमुद्रा ड्रैम (Drachm) अथवा पर्शियन "दिरहम"[२] के ही रूपान्तर है। सन् १५२५ में अनूदित ग्रन्थ "विरुद्धविधि विध्वंस[३]" (श्री लक्ष्मीधर कृत) तथा "लेखपद्धति[४]" द्वारा ईसा की १६ वीं शताब्दि तक द्रम्मों के प्रचार का बोध होता है। "मूल्य" के अर्थ में प्रयुक्त शब्द "दाम[५]" की व्युत्पत्ति द्रम्म से ही है। पञ्जाबी की प्रचलित लोकोक्ति में द्रम्म शब्द अभी तक अवशिष्ट है अर्थात् "द्रम्मां दी वोरी तेरा बाप फड़े"।

डॉ० भण्डारकर (लेंक्च०पृ०२०६) के विचार मे तो ८७५ ई० की भोजदेव प्रतिहार नरेश की प्रशस्ति मे ही सर्वप्रथम द्रम्म का उल्लेख मिलता है। मारवाड़

---

२ देखिये मेरा लेख मु० प० भाग १५, दिसम्बर १९५३ (प्रकाशनान्तर्गत)। डॉ० भण्डार कर (लैक्च०पृ०२०६) का यह मत असंगत जान पड़ता है कि ग्रीक ड्रैम तथा तथा स्टेटर का उल्लेख २०० ई० तक के शिला लेखों आदि में नहीं मिलता। ग्रीक मुद्रा "स्टेटर" (Stater) का तो उल्लेख छठी शताब्दि के अप्रकाशित ग्रन्थ अङ्गविज्ज तथा ९ वीं शताब्दि के महावीराचार्यकृत "गणितसार संग्रह" तथा यशोमित्रकृत "स्फुटाभिधर्मकोशव्याख्या", टोक्यो, तिब्बती संस्करण आदि में भी हुआ है। देखिये मेरा उपयुक्त लेख।

३ मध्य एशिया से प्राप्त खरोष्ठी के लेखों मे त्रख्म या द्रख्म रूप उपलब्ध हैं। (देखिये मेरा लेख, मु०प०, १४, पृ०१०४)। एक भारतीय लेख में तिरमम् शब्द भी द्रम्म से ही सम्बन्धित प्रतीत होता है (ए०इ०२४, पृ०१५४)।

४ इ०हि०क्वा०, १६ पृ०५७२, नोट ११, पृ०५७१।

५ पृ०९।

६ अकबर के काल मे ४० दाम एक रुपये के बराबर थे तथा दाम एक ताम्रमुद्रा (आ०स० रि०, १९०८-९ पृ०१५०-१, नोट ४)।

स्थित गोठमङ्गलोट[6] स्थान से प्राप्त (गुप्त) संवत् २८९ (=६०८ ई० या ६६५ वि० सं०) के लेख में "द्रम्म" शब्द के वर्णन द्वारा भण्डारकर के उक्त मत का निराकरण स्पष्ट प्रतीत होता है। इसके साथ[7] शक संवत् ७७५ (=८५४ ई०) के काण्हेरी के लेख में "द्राम्म" (इ०ए० १८८४, पृ० १३४), ९ वीं शताब्दि के लेख में "द्रम" ((ए०इ० २४, पृ० ३३५, १९, पृ० ५४-५) तथा प्राकृत "दम्म"[8] —ये सब द्रम्म के ही रूपान्तर प्रतीत होते हैं। जैन ग्रन्थ पुरातन प्रबन्ध संग्रह (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) में "दाममूडा" (पृ० ५३ नोट) "द्रम्म मूडा" (पृ० ५२) तथा केवल "मूडक" (पृ० ८०) का उल्लेख है। मारवाड के शिलालेखों में १४ वीं शताब्दि[9] तक द्रम्मों के प्रचार का बोध होता है। बरिया (राजपूताना) में माताजी के मन्दिर के वि०सं० १३५९ (=१३०२ ई०) के शिलालेख में भी १६ द्रम्मों का विवरण प्रस्तुत है [अजमेर संग्रहालय वार्षिक रिपोर्ट, १९२८, पृ० ३]। डॉ० भण्डारकर का विचार है कि (लेक्चर्स पृ० २०६-७) छठी, सातवीं शताब्दि ई० में गुर्जर प्रतिहारवर्ग के द्वारा ही द्रम्म शब्द का प्रचार हुआ था। अभी तक इस कथन की पुष्टि नहीं हो सकी है।

मारवाड के शिलालेखों में द्रम्म के कुछ रूपान्तर भी उपलब्ध हैं —

(क) "द्र"—ना० इ० ११, पृ० ४७-८ ५८, इ० ना० १९१६, पृ० ७९, जैन० १, पृ० २०८, २३७, २४१; जैन० २ पृ० १९३ बाम्बे० पृ० ४७२ तथा आगे॥

(ख) "द्रा"—जैन० १, पृ० २४० ना० इ० ११, पृ० ५९-६।

(ग) "द्रां"[10]—जैन० १, पृ० २४०, ना०इ० ११, पृ० ३२-३।

---

७ ना०इ०११, पृ०२११ तथा आगे यहाँ १००० द्रम्मों तक का उल्लेख है।

८ देखिये पा० स० म०, भाग २, पृ० ४१०

९ प्रो० रि० १९०८, पृ० ३९, ५२-३, वही० ११०९, पृ० ५१, ५५; बॉम्बे० पृ० ४७३ तथा आगे, मार० पृ० १७३, जैन० १, पृ० २४०, २११; २, पृ० १९३, १४३; ए० इ० ९, पृ० ६३, ६७।

१० पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ११, ६५, इत्यादि पर "दाम" भी। पुरातनप्रबन्ध संग्रह, प्रबन्ध चिन्तामणि, विविधतीर्थकल्प आदि ग्रन्थों में भी द्रम्म के संक्षिप्त रूप मिलते हैं। जैन० १, पृ० २४० पर द्र तथा द्रम्म दोनों रूप हैं।

(२) द्रम्मों के धातु आदि का विवेचनः—

मारवाड़ के शिलालेखों द्वारा द्रम्मों की बनावट तथा धातु (Metallic composition अर्थात् सुवर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य) सम्बन्धी कुछ भी ज्ञात नहीं। केवल एक स्थान पर (अर्थात् भीनमाल से प्राप्त संवत् १३४५ के शिलालेख में) "रौक्म वीसल प्री २००" (बॉम्बे, पृ० ४८८) के उल्लेख द्वारा यह ज्ञात होता है कि राजा वीसलदेव ने सुवर्ण द्रम्म भी चलाये थे। महाराज अमोघवर्ष के शक संवत् ७९९ के काण्हेरी लेख (इ० ए० १८८४, पृ० १३६) के "काञ्चन द्रम्म" भी सुवर्णमुद्रान्तर्गत ही आते हैं। डॉ० भण्डारकर (लैक्च० पृ० २०९) तो सुवर्ण, निष्क तथा काञ्चनद्रम्म–इन तीनों को पर्यायवाची मानते हैं। हेमचन्द्राचार्यकृत द्वयाश्रयमहाकाव्य (१७८४ श्री कठवते द्वारा सम्पादित, भाग २, पृ० ३८३) के अनुसार १ निष्क = [11] १०८ सुवर्णपल तथा श्रीभास्कराचार्य कृत लीलावती के प्रारम्भ में ही पण, द्रम्म तथा निष्क का आपसी मूल्य उपलब्ध है, अर्थात्–

१६ पण= १ द्रम्म, १६ द्रम्म= १ निष्क।

डॉ० भण्डारकर (लैक्च० पृ० २०७) के अनुसार द्रम्म तो रजतमुद्रा थी तथा "गधैया का पैसा" ताम्रमुद्रा। यहां गधैया मुद्रा का विवेचन भी आवश्यक प्रतीत होता है। श्री ई० जे० रैप्सन (इण्डियन कौएन्ज, १८९८, पृ० ३४) जौनपुर के १२१७ ई० के लेख में वर्णित "पड्बोद्दिक" द्रम्मों के साथ गधैया मुद्रा का सम्बन्ध जोड़ने के पक्ष का उल्लेख करते हैं परन्तु जैनग्रन्थ उपकेशगच्छपट्टावलि[12]

---

११ स्कन्दपुराण के श्रीमाल महात्म्य (७५, २५) में एक ब्राह्मण के हेतु ९ लाख निष्कों के दान का उल्लेख है। संस्कृत साहित्य में निष्क के लिये देखिये मु०प०१२, पृ०२०८ तथा आगे; लैक्च० पृ० १८२; प्रबन्ध चिन्तामणि (सिंघी जैन ग्रन्थ माला) पृ० ७ नोट ८ इत्यादि !

११अ. वराटकाना दशकद्वयं यत् सा काकिणी, ताश्च पणाश्चतस्रः।
ते षोडश द्रम्मइहावगम्यो, द्रम्मैस्तथा षोडशभिश्च निष्कः ॥

१२ देखिये श्रीपट्टावलिसमुच्चय, भाग १, १९३३ वीरमगाम, पृ० १९१; इ० ए० १९, पृ० २४०-१ तुलनाके लिये।

में तो "गद्दहिया" मुद्रा मारवाड के प्राचीन स्थान भीनमाल (श्रीमाल) के सिक्कों से सम्बन्धित जान पडती है तथा यह रजतमुद्रा है, न कि ताम्र मुद्रा अर्थात् "ज्वलितानि छगणानि रूप्यमयानि भवन्ति, ततो तेन रूप्येन गदहिया मुद्रा पातिता . तेन युष्माभिर्दीयते सवालक्ष मुद्रिका दत्ता। ततो गर्दभयानि भारयित्वा पत्तने, जगाम" इत्यादि ।

मारवाड के हीरावाडो के वि० स० १५६७ (=१५४० ई०) के लेख में १२१ १११ लाख "फदिया" खर्च करके वापीनिर्माण कराने का उल्लेख है। और (सिरोही राज्य)के सम्वत् १५८६ (=ई०स० १५३२) के लेख में भी" फदिया "शब्द का उल्लेख हुआ है। श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा (सिरोही राज्य का इतिहास १६११अजमेर,पृ०३स्फुट नोट) का मत है कि फदिया (फदैया) मुसलमानों का चलाया हुआ ही एक सिक्का था,जो दो आने के बराबर था और वहा एक फदिया का उस समय दो आना मूल्य था। इस प्रकार उक्त फादिया शब्द का व्यवहार मारवाड तथा सिरोही में अब तक भी चला आता रहा है। श्री रेउजी का यह केवल अनुमान है कि सम्भवत फदिया तथा गधिया (गधैया) पर्यायवाची हैं [कौएन्जा ऑफ मारवाड़,१९४६, जोधपुर,पृ०३] । कुछ वर्ष पहले फदिया[१३] "दो आने" के बराबर होता था [श्री रेउ कृत ' मारवाड़ का इतिहास, भाग १, जोधपुर, पृ० ११७ फुटनोट १]। गधिया तथा फदिया के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। भारत में बहुत सख्या में गधैय्या सिक्के प्राप्त हुए हैं।

(३) द्रम्मों के उपविभाग —

(अ) सवत् १३७० के भीनमाल के लेख में (बॉम्बे, पृ० ४७७) "द्रम्म" द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवत द्रम्म से छोटी मुद्रा का सर्वथा अभाव ही था। परन्तु स्वय भीनमाल में प्राप्त सवत् १३३८ के एक अन्य लेख द्वारा (वही, पृ० ४७२-५) प्रति द्रम्म एक "वि"[१४] की प्राप्ति का उल्लेख है।

---

१३ श्री गणेशचन्द (जोधपुर सग्रहालय) द्वारा यह सूचना प्राप्त हुई है कि आज कल भी मारवाड में "फदिया" शब्द द्वारा "एक आने" (=रुपये का सोलहवां भाग) का बोध होता है। इसके लिये मैं श्री गणेशचन्द जी का कृतोपकारी हूँ।

१४ अर्थात् ' क्रि द्र १ ये केअपि पयति तदा प्रति द्र वि १ समय" ।

"वि" तो मारवाड़ के अन्य शिलालेखों के विंशोपक[15] या विंसोपक[16] का संक्षिप्त रूप है। मारवाड़ से बाहर[17] समकालीन शिलालेखों में भी द्रम्म के साथ वि, विसोवक, वंसोपक, पिंशोपक शुद्ध रूप विंशोपक के ही रूपान्तर हैं। पुरातनप्रबन्ध संग्रह (पृ० १३२) में विंशोपक तथा प्रबन्ध चिन्तामणि (पृ० ६६) में विंशोपक रूप मिलते हैं। संवत् ६४३ के एक शिलालेख में भी इसका उल्लेख उपलब्ध है (ए० इ०, १६, पृ० ५५)। सियोडोनी[18] के लेखों द्वारा "वराहकीय विंसोपक" तथा "विग्रह द्रम्म विसोवक" का बोध होता है तथा मारवाड़ के लेख (संवत् १३५०) द्वारा "भीमप्रिय दशविंशोपक"[19] का।

(ब) पुरातन प्रबन्ध संग्रह में भीमप्रिय द्रम्म (पृ० ३४), द्राम-भीमप्री (पृ० ६५, लोहडिआ अथवा इका आगला द्राम भीम प्री), भीमप्री द्राम (पृ० ३३), भीमपुरि-द्राम[20] (पृ० ३३ नोट ६), भीमसेन द्रम्म (पृ० ६५, राज महाराज श्री भीमसेन द्रम्म लक्ष त्रय) के उल्लेख द्वारा यह प्रतीत होता है कि महाराज भीमदेव द्वारा चलाई हुई मुद्रा को भीमप्रिय द्रम्म कहा जाता था और तत्सम्बन्धी "दशविंशोपकों" का उल्लेख मारवाड़ के उपर्युक्त लेख में मिलता भी है। इसके अतिरिक्त पुरातन प्रबन्ध संग्रह (पृ० ५०,६५) द्वारा भीमप्रिय द्रम्मों के लोहधातु[21] से बने

---

१५ प्रो० रि० १९०८, पृ० ३६; इ० ए०, ६३, पृ० ४२: ए० इ० १०, पृ० २४ तथा आगे; प्रो० रि० १९०७, पृ० ४६।

१६ ए० इ० ११, पृ० ४१।

१७ देखिए-ए० इ० १, पृ० १६६, १६६, १७४, १७६; २, पृ० १२४, २४०; ३, पृ० २६६; २१ पृ० ४१ तथा आगे।

१८ वही अर्थात् ऊपर नोट १७।

१६ ए० इ० ११, पृ०५६-६०; जैन० १, पृ० २४४; लैक्च पृ० २१०।

२० अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन श्रीमाली जैन ठक्कुर फेरु के १३२६ में विरचित प्राकृत ग्रन्थ "द्रव्यपरीक्षा" में भी भीमपुरि मुद्रा का उल्लेख मिलता है [मु० प०, ८, भाग २ पृ० ६५]।

२१ गणितसार टीका में भी इसी प्रकार की लोहमुद्रा का उल्लेख है, देखिये मु० प०, ८, भाग २, पृ० १४०।

होने का भी पता चलता है [देखिये-लोहडिआ, लोहडिय द्रम्म, लोहटिक इत्यादि]।

(स) अर्थूणा (राजपूताना) के सवत १२३६ के लेख में "वृषविंशोपक"[२२] का उल्लेख "रूपक" तथा "द्रम्म" के साथ २ मिलता है। संभवत इन विंशोपकों पर वृष (बैल) की आकृति उत्कीर्ण रही होगी।

(द) विंशोपक द्रम्म के २० वें भाग के बराबर होने के विचार (ए०इ० ११, पृ०४१, १, पृ०१६६, १०, पृ०१६ नोट ३) से तो डॉ० भण्डारकर सर्वथा असहमत हैं) लैक्च०पृ०१८८-६)। १४ वीं शताब्दि के ग्रन्थ गणितसारटीका में विंशोपक का पर्यायवाची "वीसा" तांबे का छोटा सा सिक्का ही था [मु०प०,८ भाग २, पृ० १४३]। प्राकृत ग्रन्थों में विसोपग तथा विसोवग भी मिलते हैं [प०म०प०४, पृ० १००७]।

हथुण्डी (मारवाड) के सवत् १०५३ (जैन १, पृ० २३७) के लेख मे विंशोपक परिमाण क अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं।

(४) द्रम्मों के भेद —

(अ) भीनमाल के शिलालेख में वर्णित "रोकम वीसल प्री" द्रम्मों का उल्लेख किया ही जा चुका है। मारवाड के अन्य शिलालेखों में तत्सम्बन्धी कुछ भिन्न रूप भी मिलते हैं अर्थात्"वीसलप्रिय द्रम्म"[२३],वीस द्र[२४] तथा"वीसलप्रीय"[२५] द्रम्म इत्यादि"। लेखपद्धति[२६] में विग्रहपाल या वीसलदेव के इन द्रम्मों को जीर्णविश्वमल्लप्रिय, जीर्णश्रेष्ठ श्री विश्वमल्लप्रिय कहा गया है। इसके अतिरिक्त

---

२२ ए० इ०, ११, पृ० २६५ तथा आगे, वीर विनोद, ३, पृ० ११६६।

२३ जैन २, पृ० २६३।

२४ ए० इ० ११, पृ० ५८-६।

२५ जैन० १, पृ० २४१।

२६ अर्थात् पृ० २० पर हट्ट व्यवहार जीर्ण विश्वमल्ल प्रिय द्र, २४०४ चतुराधिक चतुर्विं शतानि द्रम्मा गृहीत:, ५०२६ पर जीर्ण श्रेष्ठ श्री विश्वमल्ल प्रिय द्र श्रेष्ठ जीर्ण विश्वमल्ल प्रिय। वही, पृ१०६, ११७ पर इनकी व्याख्या भी की गई है।

श्रेष्ठ द्विवल्लक्य वीसलप्रियद्रम्म अथवा केवल द्विवल्लक द्रम्म आदि नाम भी मिलते हैं [युगप्रधानाचार्य की गुर्वावलि—मु०प०१२, भाग २ में डॉ० अग्रवाल का भाषण]।

पुरातनप्रबन्ध संग्रह (पृ० ८०) में मूढक शत १८ की टिप्पणी करते यह उल्लेख किया गया है कि जगडु सेठ ने दुर्भिक्ष काल[२७] में राजा वीसलदेव, हम्मीर तथा सुल्तान के लिये क्रमशः ८०००, १६०००, २१००० "मूड़" नामक मुद्रा की भेंट दी थी। "मूड" मुद्रा के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। तत्सम्बन्धी द्रम्मों का ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है।

(ब) भीनमाल की मुद्राः–बड़े आश्चर्य की बात है कि मारवाड़ के शिला-लेखों द्वारा मारवाड़ स्थित श्रीमालनगरी[२८] (भीनमाल या भिल्लमाल) की मुद्रा पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इसके विपरीत भारतीय साहित्य (जैन एवं संस्कृत) द्वारा इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। भीनमाल तथा गद्दहिया मुद्रा के सम्बन्ध में उल्लेख किया ही जा चुका है। श्री क्षेमकीर्तिकृत "बृहत्कल्पभाष्य टीका" में (मु० प०, १४, पृ० १०६) तत्स्थानिक चांदी के द्रम्मो का उल्लेख मिलता है अर्थात् "रूपमयं वा नाणकं[२९] भवति यथा भिल्लमाले द्रम्मः।" लेखपद्धति मे इन्हीं द्रम्मो को "श्रीमालीय" अथवा "पारुपथक" कहा है [अर्थात् पृ० २० ११६ पर "श्रीमालीय खरटङ्कशालाहत"; पृ० ३४,११४; तथा "श्रीमालीय खरटङ्कशालाहत परीक्षित व्यवहारिक्य प्रचरत् श्रेष्ठ–श्रीमत्पारुपथक–गृहीत द्रम्म २००" पृष्ठ ४२ पर]। इसके अतिरिक्त पुरातन प्रबन्ध संग्रह (पृ० ५३) द्वारा यह विदित होता है कि "१ पारुपथक द्रम्म = ८ साधारण द्रम्म" अर्थात्:–" सुरजाणेन लक्ष ३६

---

२७ अर्थात् "अठ्ठय मूड सहसा वीसलदेवस्स सोल हम्मीरा। एक वीसा सुलताणा पयदिन्ना जगडु दुकाले॥

२८ देखिये श्रीमाल शब्द के इतिहास सम्बन्धी मेरा शोधपूर्ण लेख, प्रजासेवक, जोधपुर, ६ सितम्बर, १९५३, पृ० २ तथा आगे।

२९ यह शब्द सर्व प्रथम मृच्छकटिक तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में ही मिलता है। राजस्थानी कहावत का "नाणों" (नगद नाणों वींद परणीजै काणो) तथा जैन ग्रन्थों का "णाणं" इसी के रूपान्तर हैं। देखिये मेरा लेख प्रजासेवक, साप्ताहिक, जोधपुर, १२ अगस्त १९५३। जैन ग्रन्थों मे सुवर्ण–रजत:ताम्र नाणकों का उल्लेख मिलता है (मु० प०, १४, पृ० १०९-१०)।

द्रम्माणा याचिता। वापडेनोक्तम्-वय द्रम्मान् न जानीम । पारू (र) थकान् दास्याम । पार्श्वस्थैरुक्तम्-देव मन्यताम् । एकस्मिन् पारूथकेऽष्टौ द्रम्मा भवन्ति।" इसके साथ २ इसी ग्रन्थ में पारूथक के भिन्न रूप भी हैं अर्थात् "पारुथा द्रमा" (पृ०७८), 'पारुथक द्रम्म" (प० १२८), इत्यादि। बडे आश्चर्य की बात है कि उल्लिखित सदर्भ के अनुसार जालोर के राव उदयसिंह के मन्त्री ने केवल "पारूथक" मुद्रा के प्रति ही अपनी जानकारी प्रकट की और साधारण द्रम्मों की "वय द्रम्मान न जानीम" कह कर उपेक्षा की।[30] खरतरगच्छपट्टावलि[31] में भी "पारूत्थ द्रम्मों का उल्लेख मिलता है।

कोंकण देश के शक सवत् ११८२ के एक शिलालेख मे "पोरुत्थ[32]" द्रम्मों का उल्लेख अतीव महत्वपूर्ण है। आश्चर्य है कि श्री एलैक्जैण्डर किड[33] इन द्रम्मों का सबध खुरासानी या पार्थियन मुद्रा से जोडने का प्रयत्न करते हैं। उनका विचार है कि ये "तातरिय अथवा तहिरियेह या खुरासानी दिरहम" ही है। अभी तो यह कहना कठिन जान पड़ता है कि श्रीमालीय द्रम्मों का पारुथक या पारूत्थ नाम क्योंकर पडा ? इस दिशा में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

(आ) रूपक

हस्तिकुण्डी[34] (९९७ ई०) तथा नाडोल[35] के लेखो में "रूपक" शब्द नाडलै[36] (सवत १२०२) के लेख में "रूआ" तथा "रू" का ही पर्यायवाची

---

३० क्या पारूथक द्रम्म केवल जालोर में ही प्रचलित थे ? यह तो सोचना असगत ही होगा कि भीनमाल तथा जालोर की मुद्रा म कोई विशेष अतर था। देखिये मु० प०, १२, पृ० २०१–२।

३१ देखिये मु० प०, १२, पृ० २०२, डॉ० अग्रवाल का भाषण।

३२ ए० इ० २३, पृ० २८०

३३ गजेटियर ऑफ बॉम्बे प्रैजीडैन्सी, १,८८६, भाग १, खण्ड २, पृ० २१ नोट ६,

३४ ए० इ० १०, पृ० २४, लैक्च पृ०१८७।

३५ जैन १, पृ०२११–२।

३६ ए०इ०११, पृ०४२–३; जैन. १, पृ०२१४। पाउवा के लेख में केवल "रू" है।

प्रतीत होता है। भारतीय शिलालेखों में रूपक बहुत आरम्भिक काल से ही मिलने लगता है। गणितसार की टीका के अनुसार १ द्रम्म=५ रूपक अर्थात् "५ रूए एक द्रामु"[३७]। संस्कृत एवं जैन साहित्य में भी रूपक सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है[३८]।

गुप्त संवत् १२८ के बैग्राम से प्राप्त लेख के अनुसार १६ रूपक= १ दीनार [ए० इ० २१, पृ० ८० तथा आगे][३९] परन्तु विष्णुगुप्त[४०] के विचार में १ रूपक=१/७० सुवर्ण; १ दीनार= २८ रूपक। इस प्रकार रूपक का मूल्य स्थायी न था। कथासरित्सागर (तरङ्ग ७८, श्लोक १३) तथा राजतरंगिणी (लैक्च० पृ० १३१) में सुवर्ण रूपक का भी उल्लेख मिलता है।

(इ) फुटकर शब्दः—

(१) साण्डेराव के लेख (संवत् १२३६) में देव निमित्त प्रतिवर्ष ४ "द्राएल" के दान का उल्लेख उपलब्ध है [ए० इ० ११, पृ० ५१–२; प्रो, रि० १६०६, पृ० ५२]। अभी तक इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में किञ्चित्मात्र भी प्रकाश नहीं पड़ा है और न ही यह शब्द किसी अन्य शिलालेख या पुस्तक में ही मिलता है।

(२) मारवाड़ की ख्यातों तथा साहित्य में नरेशों द्वारा लाख पसाव के दान सम्बन्धी विवरण उपलब्ध है। "सूरजप्रकाश" से ज्ञात होता है कि महाराज अभयसिंह ने १४ लाख पसाव दान दिया था [श्री रेउ कृत "मारवाड़ का इति-

---

देखिये प्रो०रि०१६०६, पृ० ३२।

३७ द्व्याश्रयमहाकाव्यटीका में भागक (अर्थात् अर्ध रूपक) का भी विवेचन किया गया है, देखिये मु०पु०८, पृ०१४८।

३८ देखिये लैक्च०; मु०प०१४, पृ० १०६, ११०, १३३; ए०इ०।

३९ डी०सी० सिरकार कृत "सिलैक्ट इन्सक्रिप्शन्स, १६४२, कलकत्ता, पृ०३४३, फुटनोट ५ को भी देखिये।

४० पी०वी० काने कृत "हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र", भाग ३, पूना, पृ०१२२ फुटनोट १६२।

हास," जोधपुर, भाग १, पृ०२] । श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा[४१] का यह मत है । कि महाराज जसवतसिंह के काल में १ लाख पसाव दान के १५००, महाराज गजसिंह के काल में २५०० तथा महाराज सूरसिंह के काल में २५००० रुपये मिलते थे। "पसाव" शब्द सस्कृत "प्रसाद" का अपभ्रश प्रतीत होता है। महाराजाओं के कृपापात्र यन प्राप्त किया हुआ राज ' प्रसाद" कालान्तर में "पसाव" नाम से सम्बोधित होने लगा ।

४१ जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, खण्ड १, अजमेर, क्रमश पृ० ४७० नोट ३, पृ०४११ नोट २, पृ०४११ नोट २ तथा पृ० ३८७ नोट २ ।

संकेत चिन्हः—

१	आ० स० रि०	=आर्कयौलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुवल रिपोर्ट ।
२	प्रो० रि०	=प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कयौलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वैस्टर्न सर्कल ।
३	ए० इ०	=एपिग्राफिया इण्डिका ।
४	इ० ए०	=इण्डियन एण्टीक्वेरी ।
५	भाव	=ए कॉलैक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड सस्कृत इन्सक्रिप्शन्स, भावनगर ।
६	जैन०	=जैनलेखसग्रह, श्री पूर्णचन्द्र नाहड़ द्वारा सम्पादित, भाग १, २, कलकत्ता ।
७	लैक्च०	=डी० आर० भण्डारकर कृत "लैक्चर्ज ऑन एन्शैण्ट इण्डियन न्यूमिस्मैटिक्स, कलकत्ता, १९२१ ।

८	मु० प०	=जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ़ इण्डिया, बम्बई।
९	इ० हि० क्वा०	=इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता।
१०	ले० प०	=लेखपद्धति, श्री सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९२५।
११	बॉम्बे	=बॉम्बेगजेटियर, भाग १, खण्ड १।
१२	वि० सं०	=विक्रम संवत्।
१३	पृ०	=पृष्ठ संख्या।
१४	उपर्युक्त	=जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।
१५	पा०स०म०	=श्री हरगोविन्द दास त्रिकम चन्द द्वारा सम्पादित प्राकृत कोश "पाइअ-सद्द-महण्णवो", कलकत्ता।

———

पाणिनि की दृष्टि में भाषा का स्वरूप

(श्री रामशंकर भट्टाचार्य)

[उक्त लेख में विद्वान लेखक ने प्रसिद्ध वैयाकरणिक "पाणिनी की दृष्टि में भाषा का स्वरूप" विषय पर गम्भीरता से प्रकाश डाला है। पाणिनि की व्याकरण आज भी विश्व की समस्त भाषाओं के व्याकरणों में उत्कृष्ट और बेजोड़ है। इस सम्बन्ध में ऐसे गवेषणापूर्ण निबन्धों की आवश्यकता है जो विद्वानों के लिये उपयोगी हो सकें।

—सम्पादक]

संस्कृत भाषा के शब्दों के अन्वाख्यान के लिये आचार्य पाणिनि ने अपने महान् व्याकरण की रचना की है। क्योंकि व्याकरण का लक्षण है 'लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्' (महा भाष्य प्रथमाह्निक) अर्थात् लक्ष्य भूत शब्द तथा शब्दों के अन्वाख्यान साधक सूत्र दोनों मिलकर व्याकरण को पूर्णाङ्ग बनाते हैं, अत व्याकरण का ज्ञान तथा भाषा का स्वरूप ज्ञान अविनाभावी होगा। अब यह प्रश्न उठता है कि पाणिनि (जिनको 'वृत्तज्ञ' कहा जाता है, और भाषा के शब्दों में वृत्तिज शब्दों की संख्या और महत्ता सर्वाधिक है) ने संस्कृत भाषा का स्वरूप कैसा सोचा था, जिस स्वरूप के व्युत्पादन के लिये उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की थी। इस निबन्ध में हम इस विषय पर संक्षेप में आलोचना करने का यत्न करेंगे।

(क) सबसे पहले पाणिनि ने शब्दों की नियत प्रयोग-विषयता को देखा, अर्थात उन्होंने देखा कि सब शब्द सर्व प्रकार की रचना में प्रयुक्त नहीं

होते हैं[1] कुछ शब्द हैं, जिनका प्रयोग केवल वेद में होता है (यथा देवासः, गृभ्णातु, कर्णेभिः इत्यादि) और कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग केवल लोक में होता है, जिनके लिये उनको सूत्रों के साथ 'भाषायाम्' पद का प्रयोग करना पड़ा (देखो सूत्र 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इत्यादि)। जिन सूत्रों में ऐसे निर्देश ('छन्दसि' 'ब्राह्मणे' आदि) नहीं है, उन सूत्रों में अन्वाख्यात शब्द लोकवेदोभय साधारण है—यह पाणिनितन्त्र सबंन्धी एक साधारण बात है। शब्दों के प्रयोग क्षेत्र सम्बन्धी इस निर्देश के विषय में जो विशेष ज्ञातव्य है, वह निम्नप्रकार है:—

(१) पाणिनि ने वैदिक शब्दों के प्रयोग क्षेत्र में भी शब्दों की नियत विषयता को देखा था, और इसीलिये उन्होंने स्थल स्थल पर 'ब्राह्मणे' (२।३।६०) 'यजुषि काठके' (७।४।३८) ऋचि (६।३।१३) आदि शब्दों का निर्देश किया। इन निर्देशों का साधारण तात्पर्य यह है कि उल्लिखित स्थानों में ही इन शब्दों का प्रयोग होता है। सूत्रकार छन्दस् और ब्राह्मण में भेद समझते थे, और तदनुसार उन्होंने पृथक पृथक निर्देश किया (द्र० छन्दो ब्राह्मणानि च तद् विषयाणि ४।२।६६)। छन्दस् से सूत्रकार मन्त्रों को पृथक समझते थे, और तदनुसार उन्होंने मन्त्र मात्र दृष्ट प्रयोगों का भी उल्लेख किया था। इस प्रसंग में यह जानना चाहिए कि अन्य भाषा में शब्दों का जैसा 'कविता मात्र नियत' तथा 'गद्य-पद्योभय नियत' रूप विभाग रहता है, संस्कृत भाषा में पाणिनि की दृष्टि में ऐसा विभाग नहीं है।

(२) पाणिनि के अनुसार भाषा में कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जिनके विषय में पतञ्जलि के शब्दों में कहा जा सकता है—'येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते न चोच्यन्ते' ऐसे प्रयोगों को भी सूत्रकार साधु समझते थे, और तदनुसार उन्होंने सूत्र भी रचा 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०९) अर्थात् भाषा में कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनकी साधुता उपदेश के कारण ही मानी जाती है; अर्थात् शिष्ट प्रयोग से गम्यमान शब्द। पतञ्जलि ने यह दिखाया है कि यदि शिष्ट प्रयोग उपलब्ध है,

---

१ देखो 'मघवा बहुलम्' (६।४।१२८) सूत्र की प्रदीप टीका। क्षीर स्वामी ने भी कहा है—'छन्दसा अमी जिघर्त्यादिवत् नियतविषया. (क्षीरतरंगिणी स्वादिगण)। विशेष प्रकार के व्यवहार में शब्द-प्रयोग में भिन्नता होती है (केवल प्रयोग में ही नहीं, उच्चारण में भी) इस तथ्यसे पाणिनि परिचित थे। प्रणवष्टेः' (८।२।८९) आदि सूत्र इसमें प्रमाण हैं।

तो पाणिनि का अनुशासन उसमें बाधा नहीं दे सकता, प्रत्युत यदि प्रयोग दृष्ट न हो, तो पाणिनि के सूत्रों से प्रयोग नहीं बन सकता है (यथा लक्षणमप्रयुक्ते ६।१।६८[2])। पाणिनि का यह सर्वशीर्ष सिद्धान्त है–कि वह सिद्ध शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है, असिद्ध शब्दों को बनाता नहीं है।

(ख) पाणिनि ने यह भी लक्ष्य किया कि कालक्रम के अनुसार प्रयोग में भेद होते हैं अर्थात् कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके प्रयोग परवर्तीकाल में लुप्त हो जाते हैं, तथा नवीन प्रयोगों की उत्पत्ति भी होती है। पाणिनि से स्वीकृत शब्दों के इस कालकृत वैलक्षण्य के विषय में हमलोग पाणिनि की दृष्टि के अनुसार कुछ उदाहरण दे रहे हैं। यथा —

(१) पाणिनि का सूत्र है– 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०)। इस सूत्र के विधान में पाणिनि ने वर्त्तमान काल (लट्) का प्रयोग (अनुप्रयुज्यते) किया है, जिससे यह ज्ञापित होता है कि इस सूत्र से विहित कार्य पाणिनि का समकालीन है। व्याकरण के सूत्रों में इस प्रकार के वर्तमान काल बोधक क्रिया पद की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, परन्तु जब सूत्रकार ने ऐसा प्रयोग किया है तब यह मानना होगा कि इस सूत्र के अनुसार प्रयोगों का होना पाणिनिकालिक है। यदि ऐसी बात नहीं होती, तो पाणिनि 'कृञोऽनुप्रयोगो लिटि' ऐसा सूत्र लिखता, जिससे अक्षर लाघव भी होता (जो पाणिनि की एक विशेषता है), तथा अन्य सूत्रों की रचना से समता भी होती।

कालानुसार नवीन प्रयोगों की उत्पत्ति होती है, इस सिद्धान्त से पाणिनि-सम्प्रदाय परिचित है, और अपाणिनीय शब्दों के बारे में प्राय सम्प्रदाय के वैयाकरणिक कहते हैं कि 'काल दुष्टा अपाप शब्दा' (भागवृत्ति १।१।७७)।

---

२ यह वाक्य व्याकरण सिद्धान्त का एक मूलभूत वाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है–'अप्रयुक्त शब्दों में व्याकरण का सूत्र प्रवर्तित नहीं होता है, और यही व्याकरण सूत्रों की महिमा है (अप्रयुक्ते लक्षणमात्रस्य योग्यतेवार्थ — उद्योत ६।१।६८)। क्यों ऐसा माना जाता है इसके लिये महामति कैयट ने कहा है–लोके प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानमिति अप्रयुक्ते लक्षणानाम प्रवृत्तिनवरण लक्षणम् इत्यथ'। 'लक्ष्य लक्षणो व्याकरणम्' यह सिद्धान्त भी निश्चय है।

(ख) पाणिनि ने यह भी लक्ष्य किया कि जो शब्द किसी समय वैदिक रहता है, वह कालान्तर में लौकिक भी हो जाता है, तथा जो शब्द किसी समय लौकिक रहता है, वह किसी समय वैदिक हो जाता है। इसका एक एक उदाहरण दिया जा रहा है प्राक्पाणिनीय आचार्य आपिशलि के मत में जिन जिन धातु का प्रयोग केवल वेद में ही होना चाहिए, आचार्य पाणिनि ने उन धातुओं का प्रयोग लोक में भी करने के लिये उपदेश दिया (देखो ७।३।९५ सूत्र की काशिका)। यह निश्चित है कि आप शलि के समय इन धातुओं का प्रयोग केवल वेद में ही होता था, पर चूँकि पाणिनि के समय इन धातुओं का प्रयोग लोक में भी होने लगा, अतः पाणिनि ने 'प्रयोग विषय की परिवर्तन शीलता' को मानकर वैसा ही अनुशासन किया।

विपरीत पक्ष मे यह भी देखा जाता है कि सगर्म्य आदि कुछ शब्दों को प्राक्पाणिनीय आचार्य भागुरि लौकिक समझते थे, पर पाणिनि ने स्पष्टरूप से कहा है कि वे शब्द वैदिक हैं (देखो ४।४।१४३ सूत्र की भाषा वृत्ति तथा इसकी टीका)। शब्द प्रयोग का क्षेत्र बदलता रहता है—इस सिद्धान्त को पाणिनि ने साक्षात् रूप से मान कर ही प्राचीन अनुशासन का उल्लंघन किया है—ऐसा यहाँ कहना ही पड़ेगा।

(ग) पाणिनि ने यह भी देखा कि भाषा के सब प्रयोग सब देश में समान नहीं होते है, अर्थात किसी स्थल पर किसी शब्द का प्रयोग नियत रहता है। यह एक ऐसा सत्य है जो आजकल भी सब भाषा में द्रष्ट होता है। यह सब निरुक्तकार यास्क को भी मान्य था, क्योकि उन्होंने कहा था। 'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु भाष्यते, विकार एन मार्यी भाषन्ते शव इति (निरुक्त १ अ०)। पाणिनि ने अपने अनेक सूत्रों मे प्राचाम यथा ४।१।१७ ४।२।१३९ आदि) तथा 'उदीचाम्' (यथा ४।१।१५७ इत्यादि) शब्दो का व्यवहार कर यह ज्ञापित कर चुके हैं कि देश भेद में भाषा के शब्दों का प्रयोग नियत रहता है। देश भेद मे केवल निर्दिष्ट शब्द का प्रयोग-नियमन ही होता है, यह बात नहीं, स्वर में भी (उदात्त आदि देशभेदप्रयुक्त भेद है (देखो ६ अ० २ पा० के स्वर सूत्र)।

'प्राचा' शब्द किसी किसी सूत्र में 'प्राचामाचार्याणाम्' इस अर्थ मे व्यवहृत हुआ है (यथा 'प्राचां स्फ तद्धितः') और किसी किसी सूत्र में 'देश के अर्थ में, (यथा 'प्राचां कटादेः' सूत्रों मे)। कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जिनमे प्राचां शब्द के दो

ही अर्थ सगत होते हे। 'कार नाम्नि च प्राचा हलादौ' (६।३।१०) सूत्र में कैयट ने प्राचा शब्द के दो ही अर्थ (देश तथा आचार्य) दिखाये हैं। ऐसा भी मत प्रचलित हैं कि सूत्रस्थ 'प्राचाम्' 'उदीचाम्' आदिशब्द केवल विकल्प वाची हैं, देश भेदप्रयुक्त प्रयोग भेद पर इन शब्दों का कोई तात्पर्य नहीं है। पर यह मत ठीक नहीं है,इसका विचार मैंने अन्यत्र किया। (देखो मेरा लेख 'Panini's notion towards the authoritativaness of the views of his Predecessors

(घ) पाणिनि ने यह भी लक्ष्य किया कि आचार्य भेद से शब्द साधुत्व विचार में भी भिन्नता होती है। कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जिनको सब आचार्य नहीं मानते हैं, और ऐसे स्थलों पर पाणिनी ने अनुमोदक आचार्य का नाम भी प्रयोग विधायक सूत्र के साथ लिया है। यथा 'वा सुप्यापिशले' (६।१।६८) सूत्र में उन्होंने आचार्य आपिशालि का नाम भी लिया है,क्योंकि इस सूत्र का प्रयोग केवल इसी आचार्य से सम्मत है। कभी कभी उनको यह भी दिखाना पड़ा है कि अमुक विधि किन किन आचार्यों के अनुसार नहीं है, जैसे 'नोदात्तस्वरितोदयम् -अगार्ग्य-काश्यप गालवानाम्' (८।४।६७) सूत्र में पाणिनि ने यह भी निर्देश किया कि इस सूत्र का कार्य गार्ग्य काश्यप और गालव का इष्ट नहीं है। आचार्य नामों के ग्रहण में पाणिनि अत्यन्त सावधान थे, और जहाँ एक से अधिक आचार्य किसी प्रयोग को मानते थे, वहाँ उन सबों के नाम उन्होंने लिये हैं यथा 'अड् गार्ग्य गालवयो' (७।३।९९) सूत्र में उन्होंने दो आचार्यों के नाम लिये हैं।

जैसा आचार्य भेद से प्रयोग भेद होता है, वैसा सम्प्रदाय भेद से भी होता है, पाणिनि का 'यजुष्येकेषाम्' (८।३।१०४) सूत्रस्थ 'एकेषाम्' शब्द इसका प्रमाण है। एकेषाम् का अर्थ है 'कुछ लोगों के अनुसार', कुछ लोग=सम्प्रदाय ही होगा-व्यक्ति विशेष नहीं।

कभी कभी यह भी देखा जाता है कि सूत्रकार ने किसी मत को वैकल्पिक रूप में उपन्यस्त किया है, जब कि वस्तुत वह मत वैकल्पिक नहीं है-अर्थात् किसी आचार्य के मत में यह ठीक है, तथा अन्य आचार्य उसको नहीं मानते हैं। यथा पाणिनि ने सूत्र किया है 'जराया जरस् न्यतरस्याम्' (७।२।१०१) अर्थात् यह मत वैकल्पिक है, पर जैनेन्द्र व्याकरण में लिखा है कि जरसादेश इन्द्र के अनुसार है। (जराया इन्द्रस्याचि (१।२।३७), अन्य आचार्य इसको नहीं मानते हैं। पर

पाणिनि ने इन्द्र का उल्लेख नहीं किया जिससे मालूम पड़ता है कि उनके समय यह विधि वैकल्पिक रूप से ही सर्वत्र मानी जाती थी, केवल इन्द्र सम्प्रदाय तक सीमित नहीं थी। इससे यह भी ज्ञापित होता है कि कभी जो प्रयोग किसी आचार्य के सम्मत था, वह बाद में सर्वथा वैकल्पिक हो सकता है।

(ङ) आचार्य ने यह भी लक्ष्य किया कि संस्कृत भाषा के कुछ शब्द का निर्वचन तो प्रकृतिप्रत्ययविभाग के अनुसार होता है, और कुछ का उस प्रकार का निर्वचन करना व्यर्थ है। शाकटायन आदि ने जैसे बलपूर्वक ऐसा कहने का साहस किया कि सभी शब्द समान रूप से धातु से बनाये जा सकते हैं। सूत्रकार ने इस मत को मान्यता नहीं दी। उसी प्रकार गार्ग्य आदि समझते थे कि सभी शब्द मूलतः रूढ़ हैं, पर सूत्रकार ने इस मत को भी असंगत कहा। जिन शब्दों को पाणिनि रूढ़ समझते थे (अर्थात् जिनके लिये प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन करना व्यर्थ) उनके लिये 'उणादयो बहुलम्' (३ । ३ । १) सूत्र की रचना की। जिसमें यह स्पष्ट रूप से ध्वनित हो जाय कि औणादिक शब्द व्युत्पत्ति योग्य नहीं हैं। इस प्रकार विषय विभाग कर सूत्रकार ज्ञापित करते हैं कि भाषा के सब शब्दों का स्वरूप एक प्रकार का ही होगा- ऐसी बात नहीं है; व्यवहार से शब्द की प्रकृति जैसी बन गई है, भाषा में तदनुसार उसका स्थान दिलाना ही भाषा शास्त्री का काम है।

पाणिनि की निर्वचन पद्धति की विशिष्टता है। तद्धित प्रकरण में उनका निर्वचन संपूर्ण लोक विवक्षानुसारी है। उनका सिद्धान्त है- 'अभिधान लक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः' अर्थात् कृत्तद्धित और समास का प्रयोग अभिधान=लौकिक विवक्षा के अनुसार ही होना चाहिए। यदि लौकिक विवक्षा नहीं है, तो सूत्र की प्राप्ति होने पर भी तदनुसार प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(च) सूत्रकार ने अनेक सूत्रों मे शब्दसंकलनात्मक गणपाठों की रचना कर यह विज्ञापित किया है कि कभी कभी किसी एक विशेष प्रकार का कार्य भाषा के कितने शब्दों में होता है। इसकी गणना नहीं हो सकती है। अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे गण हैं, जिनके शब्द निर्दिष्ट है, पर अधिकांश गणपाठ ऐसे हैं, जहाँ पर शब्दों का संकलन उदाहरणात्मक है, अर्थात् तत्सदृश अन्य शब्दों का संकलन हो सकता है। गणपाठों के शब्दसंकलन की प्रकृति के विश्लेषण करने पर पता

चलता है कि यद्यपि शब्दों के संकलन में उन्होंने बड़ी सावधानी की है (महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य—काशिका) क्योंकि अनेक स्थलों में गणपाठीय शब्दों के संकलन की न्याय्यता के लिये पतञ्जलि ने तर्क किया है (यथा 'शिवादिभ्योऽण्'—आदि सूत्रभाष्यों में), तथापि प्रायः सभी गणपाठ पाणिनि के अनुसार आकृतिगण हैं, अर्थात् अन्य वाञ्छनीय शब्दों का अन्तर्भाव उन गणों में हो सकता है। यही कारण है कि किसी किसी गणपाठ में ६, ७ या १० शब्द हैं, जबकि किसी किसी सूत्र में एकजातीय शब्द १५ से भी अधिक हैं, जहाँ लाघव के लिये गणपाठ करना सर्वथा उचित था। यास्क आदि के ग्रन्थों में संकलित शब्दों की जैसी गणना है, पाणिनि ने ऐसा नहीं किया— यह भी उक्त विषय में प्रमाण है।

(छ) पाणिनि ने यह भी ज्ञापित किया है कि भाषा के कुछ शब्द कभी सार्थक रूप से प्रयुक्त होते हैं, पर बाद में उसकी सार्थकता नष्ट होने पर भी उसका प्रयोग होता रहता है। वर्तमान भाषाविज्ञान ने भी इस सिद्धान्त को मान लिया है। पाणिनि का निम्न सूत्र इस तथ्य की ओर इंगित करता है। यथा — महाभारत आदि के प्रमाणों से जाना जाता है कि कभी इस देश में जनपद का नाम निवासियों के नाम के अनुसार होता था। (पाणिनि भी इस तथ्य से परिचित थे।) यथा पञ्चाल जाति के कारण जनपद का नाम पाञ्चाल पड़ा था, पर बाद में पाञ्चाल जाति के नाश होने पर भी जनपद का नाम 'पाञ्चाल' ही रह गया। पाणिनि के समय पाञ्चाल नाम से पाञ्चाल जाति का कोई दृष्ट सम्बन्ध तो नहीं था, और इसीलिये पाणिनि ने कहा कि यदि जाति के कारण नाम होता है। ऐसा कहोगे तो जाति के अदर्शन होने पर नाम का अदर्शन होना होगा, पर चूँकि ऐसा देखा नहीं जाता, अतः मानो कि योगस्य प्रमाण (जाति जन्य नाम) नहीं है (योग प्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् १।२।५५)।

शब्द प्रवृत्ति की भिन्नता के कारण ही पाणिनि ने अनेक शब्दों की निरुक्ति प्राचीन आचार्य दर्शित निर्वचन से भिन्न रूप से की है। 'परवर्तिकाल में अर्थों के संकोच-विकास के कारण ही उनको ऐसा करना पड़ा—यही इस विषय में युक्ततम उत्तर है। यथा प्राक्पाणिनीय आचार्य 'गोमय' शब्द को गोमधातु से कृत प्रत्यय कर बनाते थे, पर पाणिनि ने गो शब्द से 'गोश्च पुरीषे' (४।३।१४५) सूत्र के द्वारा मयट् प्रत्यय से बनाया है। (देखो क्षीरतरंगिणी चुरादिगण) यहाँ स्पष्ट है कि

प्रवृत्ति निमित्त में भेद होने के कारण उनको व्युत्पत्ति मे भेद करना पड़ा।

(ञ) पाणिनि ने यह अनुभव किया कि भाषा के सब शब्दों के विषय में समान रूप से अनुशासन नहीं किया जा सकता है। प्रयोग में अनन्त प्रकार की विचित्रता है, और सर्वथा उन वैचित्र्यों में कुछ समान तत्त्व दीख नहीं पड़ता है; और इसीलिये उन्होंने कई सूत्रों में 'बहुलम' आदि शब्दों का व्यवहार किया. जिससे किसी प्रकार से व्यवहृत शब्दो का अन्वाख्यान हो जाय। पतञ्जलि ने निम्नरूप से इस पाणिनीय दृष्टि को खोला है। यथा-एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्चय। केवल लक्षणं केवलः प्रपञ्चोवा न तथा कारकं भवति। अवश्यं खल्वप्यस्माभिरिदं वक्तव्यम्-बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् 'इति' (२। १। ५७)[3] वस्तुतः एक एक शब्द गिन गिन कर यदि अन्वाख्यान किया जाय, तो कदापि शब्दो का ज्ञान नहीं हो सकता है- पाणिनि इस तथ्य से परिचित थे, और इसीलिये सामान्य तथा विशेष सूत्र रचकर व्याकरण की रचना की जाती थी, पर इस प्रकार से सूत्रों की रचना होने पर भी सब शब्दों का अन्वाख्यान करना असंभव है, इसीलिये उपर्युक्त पद्धति का आश्रय लिया जाता है।

(झ) भाषा के विषय में और एक सुमहान तथ्य से पाणिनि का परिचय था— वह है काल की गति के अनुसार 'वृत्तियों' की अभिवृद्धि। हमने अन्य निबन्ध में यह प्रमाणित किया है कि प्राक्पाणिनीय व्याकरण की तरह तद्धित वृत्ति का इतना विकसित रूप नहीं था। प्राक् पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थ में तद्धित के विषय में सामान्य उपदेश था, और पाणिनि ने उस अंश को अपनी पराकाष्ठा तक पहुंचाया है। कितने ही ऐसे स्थल है, जहाँ पर पाणिनि ने तद्धित प्रत्यय से

---

३ 'बहुल' आदि शब्दो का प्रयोग यदि नहीं किया जाता, तो सब शब्दो का किसी प्रकार से अन्वाख्यान करना असभव हो जाता। कैटय ने निम्न शब्दो मे इस मत को दिखाया है-'अपरिपूर्णानां हि पूर्णत्वं बहुल ग्रहणेन क्रियते इति नैगमरूढिभवानां व्याकरणे ऽस्मिन व्युत्पादनाद् असन्दिग्धं साधुत्वमवगम्यत इत्यर्थः' (३।३।१ प्रदीप)। नागशेमट्ट ने इस मत की पुष्टि के लिये युक्ति भी दी है, यथा सर्वाभ्यः प्रकृतिभ्यः सर्वप्रत्ययानां तत्तद्रूपेण विधानं तु ब्रह्मणोऽपिपुरूष पादमिति भाव.' (उद्योत)

शब्दों की सिद्धि की है, पर प्राक् पाणिनीय आचार्य उन शब्दों की सिद्धि के लिये कृत्प्रत्यय का व्यवहार करते थे। व्यवहार में जटिलता तथा कालानुसार चिन्ता में विकाश आदि के साथ साथ तद्धितीय प्रयोगों की विपुलता होती है, और जब भाषा का यह अंश विशालायतन हो जाता है, तब उसके अन्वाख्यान के लिये विशाल प्रयत्न भी करना पड़ता है। यही कारण है कि अष्टाध्यायी में तद्धित के सूत्र सबसे अधिक हैं। अष्टाध्यायी में ऐसे अनेक अंश हैं, जो प्राकपाणिनीय व्याकरण में नहीं था, या सामान्य रूप से था। पाणिनि ने जिस विषय का विस्तृत विवरण दिया है, वह विषय मैंने 'पाणिनि की उपज्ञा का फल' शीर्षक लेख में प्रमाणित किया है।

(ग) पाणिनि यह भी जानते थे कि भाषा के शब्दों में 'काल परिणाम' का नियम करना असंभव तथा अलीक है। 'परोक्ष' किसे कहते हैं, 'अद्यतन काल' का परिणाम क्या है' इत्यादि विषय पर पाणिनि ने कुछ कहा नहीं है, क्योंकि वे जानते थे कि ऐसे शब्दों का अर्थ नियत नहीं है, तथा देश और काल के भेद में इनके अर्थ का सम्प्रसारण तथा संकोच होता है। देखो सूत्र 'कालोपसर्जने च तुल्यम्,' (१।२।५७) तथा इस प्रकरण का अन्य सूत्र]।

ठीक इसी प्रकार आचार्य ने कहा है कि क्षुद्र जन्तु के द्वन्द्वसमास में एक वचन होता है ('क्षुद्रजन्तवः' सूत्र) पर क्षुद्रजन्तु किसे कहते हैं— इसका विवरण उन्होंने नहीं दिया। भाष्य आदि ग्रंथों से पता चलता है कि क्षुद्रजन्तु के स्वरूप में विवाद था और चूंकि ये सब भिन्न मत सार्थक हैं, इसलिये पाणिनि ने किसी एक के अनुसार अर्थ कर अन्य अर्थ की अवहेलना करने की अपेक्षा मूल शब्द को लेना ही यथार्थतर समझा, जिसमें सभी अर्थों का द्योतन हो। प्रायः किसी भी विवादास्पद लक्ष्य के विषय में उन्होंने लक्षण नहीं किया है, जिसका यही कारण है कि वे विभिन्न दृष्टिकोण में सभी लक्षणों को ठीक समझते थे। तथा सभी लक्षणों की उपयोगिता को मानते थे।

पाणिनिव्याकरण के पाठक को यह पहले ही समझना होगा कि सूत्रकार ने अपने सूत्रों में पूर्वकाल से प्रचलित सभी मतों को स्वीकार किया है, तथा प्रत्येक मत को अपनी यथार्थता के अनुसार स्थान दिया है (देखो मेरा लेख Some chief Characteristics of panini यह ही I. O R. I में प्रकाशित)।

पूर्वोक्त उदाहरणों से हम लोगों ने पाणिनि की दृष्टि से भाषा के जिस स्वरूप का निर्धारण किया है— उसको संक्षेप में दिखाया जा रहा है:—

(१) भाषा के कुछ शब्द किसी विशेष प्रकार की रचना में नियत रहते हैं।

(२) देश तथा काल से शब्द प्रयोग नियत रहता है।

(३) कुछ शब्द शिष्टोपदेश के कारण ही साधु माने जाते हैं।

(४) कालक्रम के अनुसार शब्द प्रयोग में भिन्नता होती है।

(५) आचार्य भेद से भी शब्द साधुत्व का नियमन होता है।

(६) किसी भी एक जातीय शब्दों की गणना सर्वदा संभव नहीं है, क्योंकि शब्द प्रयोग का यत्तावधारण शक्य नहीं है।

(७) प्राचीन काल का सार्थक शब्द बाद में निरर्थकरूप से प्रयुक्त होते हैं।

(८) व्याकरण के नियम सम्पूर्ण शब्दों के सब व्यापारों का ज्ञान नहीं करा सकते हैं।

(९) व्यवहार की वृद्धि के अनुसार नूतन नूतन शब्दो की उत्पत्ति होती है।

(१०) व्यापार में प्रचलित कुछ विशेष शब्दों के लक्षण व्याकरण से गम्यमान नहीं होता है, प्रत्युत लोकानुसारी व्युत्पत्ति ही काम्य है।

———

राजस्थान के अभिलेख[1]

जयपुर का राजकीय अभिलेख संग्रह[2]

(लेखक–डॉ० सत्यप्रकाश, जयपुर)

आज से लगभग दो वर्ष पूर्व मुझे राजस्थान की विभिन्न इकाइयों में स्थित अभिलेख संग्रहालयों को देखने का अवसर मिला था। इन संग्रहालयों में संग्रहित अभिलेखों को देखने से मुझे ज्ञात हुआ कि राजस्थान में इस प्रकार की सामग्री का एक अमूल्य भण्डार है। प्राय सभी भूतपूर्व राज्यों में अभिलेख संग्रहालय थे। यद्यपि इन अभिलेखों का मूल्याङ्कन अभी तक नहीं हो सकता है, पर यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि उनके महत्व को सभी राज्य की सरकारों ने समझा था। राजस्थान के अनेक अभिलेख संग्रहालयों में से जयपुर का अभिलेख संग्रहालय अपना निजी स्थान रखता है। यहाँ पर एक विहङ्गम दृष्टिपात करेंगे और उस सामग्री के साधारण मूल्य को पाठकों के सम्मुख प्रकाश में लाने की चेष्टा करेंगे।

जयपुर का राजकीय अभिलेख संग्रहालय 'दीवाने हजूरी रेकार्ड्स' कहलाता है। यह मुबारक महल के मुख्य प्रवेश द्वार के ऊपरी भाग में स्थित है। यहाँ के संग्रहित अभिलेख तिथियों के क्रम को दृष्टि में रखते हुये सम्वत् १७६५ से प्रारम्भ होते हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के पत्रों का संग्रह है जिनमें जागीर, मनसब, मुआमला, सूबा, तन्खवाह, वक़्फ़, इनाम, भोग, क़िलेदारी आदि विषय मुख्य हैं। राज्य, ज़िलों तथा गाँवों में होने वाली सभी बातों का वर्णन यहाँ के अभिलेखों में हैं।

इन अभिलेखों को हम ५ बड़े भागों में तथा दो छोटे भागों में विभक्त कर सकते हैं। बड़े भाग तो इस प्रकार हैं—

(१) **मवाजये कलाँ**—इनमें गाँवों का इतिहास तथा सब प्रकार की तहसील वसूली का हाल है।

(२) **मवाजये खुर्द**—इनमें भी गावों का इतिहास है, पर साथ ही साथ दीवाने द्वारा दी हुई आज्ञाओं की प्रतिलिपियाँ है।

(३) **नुस्खा पुण्य**—इस प्रकार के दान पुण्य के पत्र जिनमें उदक, इनाम, भोग आदि विशेष हैं, यहाँ पर संग्रहित हैं।

(४) **सनद नवीस**—इन पत्रों मे उन पत्रों की प्रतिलिपियाँ हैं जो दीवान द्वारा लगान वसूल करने वाले अधिकारियों को भेजे जाते थे। भूमि प्राप्त करने वालों को भूमि प्राप्ति की साक्षी स्वरूप सनद दी जाया करती थी। इस विभाग में दान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों का व्यक्तिगत इतिहास सुरक्षित है। इस व्यक्तिगत इतिहास को 'इस्म' नाम यहाँ के पत्रों में दिया गया है।

(५) **वाक़या**—इन पत्रों मे रीति रिवाज सम्बन्धी पत्रों के अतिरिक्त दरबार आदि के समय में होने वाली सभी बातों का उल्लेख है। राजकुमार, वाइसरायो और एजेण्टों आदि के राज्य मे आने जाने के समय होने वाले समस्त कार्यवाही का उल्लेख यहाँ के पत्रों में हैं।

इस अभिलेख विभाग का छोटा भाग इस प्रकार है—

(अ) नुस्खा कुल्ली और (ब) नुस्खा खुर्द

प्रथम में सब सनद फर्दों और परवानों की दो दो नकलें सुरक्षित हैं। सनदों मे भूमिदान देने से सम्बन्ध रखने वाली समस्त बाते लिखी हैं और परवानों में वे सब लेख हैं, जो दीवानों ने दान के सम्बन्ध मे मालगुजारी के अधिकारियों को लिखे थे। द्वितीय मे फुटकर और आवश्यकीय सनदों तथा परवानो आदि की नक़लें सुरक्षित है।

उपरिलिखित पत्रो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अभिलेखो मे (अ) अरसट्टे-परगनेवार गाँवों का इतिहास (ब) आवरजे परगनों के हिसाब तथा (स) रोजनामचा परगनो के दिन प्रतिदिन के आय व्यय का ब्यौरा है।

इन पत्रों के अतिरिक्त जयपुर के अन्य फुटकर अभिलेख इस प्रकार से हैं—

(अ) मीरबख्शी रेकार्डस (अभिलेख)–

इन में जागीर दान सम्बन्धी पत्र हैं जो कि सम्वत् १८०० से प्रारम्भ होते हैं। इनमें घोडे द्वारा राज्य सेवा करने वाले व्यक्तियों को ही गाँव आदि देने का उल्लेख है।

इनमें कुछ ५२ खास, लगी नक्कारा तथा अन्य सेवा सम्बन्धी उपस्थिति सूचक पत्र हैं। घोडों तथा पैदल सिपाहियों के चेहरों (चिन्हों) का भी उल्लेख यहाँ पर सुरक्षित पत्रों में पाया जाता है।

(ब) बख्शीखाना जागीर रेकार्डस–

इन पत्रों में भी जागीर सम्बन्धी पत्र हैं। स० १८७५ से लेकर २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के वे सब पत्र यहा सुरक्षित हैं, जिनका सम्बन्ध उस भूमि-दान से हैं जो कि घोडे वाली सेवा के उपलक्ष में दी गई। यही नहीं, लवाजमा हाथियों, पालकियो तथा सेवा में नियुक्त घोड़ों की हाजिरी के पत्र भी यहा सुरक्षित है। सेवा में नियुक्त घोडों के सम्बन्ध में जो जुर्माना किया गया, उनका भी हिसाब यहां है।

(स) शामलात और मुस्तौफी हुजूरी रेकार्ड–

स० १६०० मे थे पत्र सग्रहीत है। इनमें राज्यद्वारा ली हुई दान दी हुई भूमि का उल्लेख है। इन पत्रों में मुआमला, चुकौती और इस्तमरार दान सम्बन्धी पत्र भी हैं। इनमें उन पत्रों का भी सग्रह है जिनमें महाराजाओं के विवाह के अवसरपर जो नेवते का रुपया आया था, वह लिखा है।

(द) प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेख तथा खरीता नवीस अभिलेख–

इन पत्रों में शाही फरमान, परवाने, सनद, वकीलों की रिपोर्ट, अखबारात खरीता, निशान हैं। ये सब वे पत्र हैं जो या तो दिल्ली साम्राज्य के अधिकारियों को जयपुर द्वारा लिखे गये थे या तो दिल्ली की सरकार ने जयपुर की सरकार को लिखे थे। इन पत्रों में वे पत्र भी हैं जो कि बादशाह ने स्वय जयपुर नरेश को लिखवाये थे, अथवा जयपुर नरेश ने स्वय दिल्ली के सम्राट् को लिखवाये थे, या उन दोनों के अफसरों ने एक दूसरे को लिखे थे।

(इ) (सेन्ट्रल रेकार्ड्स) केन्द्रीय अभिलेख

इन पत्रों में सन् १८३१ ई० से लेकर अब तक की समस्त सरकारी मिस्लें हैं। जयपुर राज्य सम्बन्धी सभी सरकारी कागजात यहां पर देखने को मिलते हैं। महाराजा सवाई जयसिंह और श्रीरामसिंहजी के समय के समस्त राजकीय पत्रों का यह अच्छा संग्रह है। ये सरकारी पत्र सन् १८४५ ई० तक के हैं।

दीवाने हुजूरी और अन्य पत्र सात इन्च लम्बे तथा पांच इन्च चौड़े पत्रों के टुकड़ों पर लिखे सुरक्षित हैं। ये तोजियों में रखे हैं। हर तोजी के (बंडल में) १००० से लेकर ५००० पत्र हैं। इन सब लेखों की भाषा भाड़शाही हिन्दी है, जो कि जयपुर राज्य की राजकीय भाषा रही है। ये सब पत्र ठीक प्रकार से सुरक्षित हैं, पर इन सब के ऐतिहासिक मूल्य को ठीक प्रकार से आंकना बाकी है। इनके अध्ययन द्वारा जयपुर का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास सहज में निर्मित किया जा सकता है। आशा है कि राजस्थान का अभिलेख संग्रह विभाग इस ओर सचेत होगा और हमें इन अभिलेखों के आधार पर राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा निर्धारित करने में उचित सहयोग प्राप्त होगा।

सम्पादकीय टिप्पण:—

(१) एकीकरण होने के पूर्व राजस्थान भिन्न-भिन्न राज्यों के रूप में विभक्त था और उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, बूंदी, कोटा, जयसलमेर, सिरोही, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, किशनगढ़, भरतपुर, अलवर, करौली, धौलपुर, टोंक और झालावाड़ राज्यों का राजस्थान की परिधि के अन्तर्गत समावेश होता था। प्रत्येक राज्य के पृथक्-पृथक् अभिलेख संग्रहालय थे, जो अब भी विद्यमान हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण सामग्री भरी हुई है। इनका मूल्य अङ्कित किये जाने पर वह मुगलकालीन समय से आरम्भ होती है। प्राचीन ठिकानों, ठिकानों आदि में भी बहुतसी सामग्री बिखरे हुए रूप में मिलती है। इसके अतिरिक्त मूर्ति रूप में भी प्रस्तरांकित लेख भी ठौर-ठौर मिलते हैं, जिनमें तत्सम्बद्ध शासन नीति, सामाजिक स्थिति आदि पर पूरा प्रकाश पड़ता है। यथार्थ में देखा जाय तो इनका वैज्ञानिक रूप से अब तक अन्वेषण और परीक्षण भी बहुत कम हुआ है। आवश्यकता है अन्वेषण कार्य तुरन्त ही आरम्भ होकर प्रकाशन कार्य भी होता रहे। यह कार्य केवल एक व्यक्ति का नहीं है। इसमें शासन के साथ प्रत्येक इतिहास प्रेमी को सामूहिक रूप से जुट जाना चाहिये। किन्तु

इस कार्य में सफलता तब ही हो सकती है, जब केन्द्रीय भारत सरकार, राजस्थान सरकार, नरेश गण, ठिकाणेदारों आदि का भी समुचित रूप से सहयोग हो।

(२) जयपुर का अभिलेख संग्रह राजस्थान में निस्सन्देह अद्वितीय वस्तु है। यह संग्रह आज से लगभग बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व अन्य राज्यों के अभिलेख संग्रहों के समान ही सुदृढ़ तालों में बन्द था। सुयोग्य विद्वानों तक के लिये उसका दर्शन करना दूर रहा, वहाँ सूर्य रश्मियां भी नहीं पहुँच सकती थी। मुगल कालीन इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान डा० श्री यदुनाथ सरकार एम० ए० को जयपुर राज्य का इतिहास लिखते समय उक्त अभिलेख संग्रह को देखनेका अवसर मिला और उन्होंने इस संग्रह को टटोल कर उसमें बहुमूल्य सामग्री खोज निकाली। सीतामऊ के सुयोग्य महाराजकुमार डा० श्री रघुबीरसिंहजी एम० ए०, एल एल० बी०, डि० लिट् ने उक्त सरकार द्वारा अन्वेषित जयपुर अभिलेख सबधी सामग्री की प्रतिलिपि आदि करवा कर अपने रघुवीर पुस्तकालय में संग्रहित की है। राजस्थान ही नहीं, मध्य भारत (मालव) में यह एक उत्तम श्रेणी का अद्वितीय पुस्तकालय है, जिसमें अन्य सामग्री के साथ जयपुर अभि लेख सबधी सामग्री भी है जो प्रकाशन योग्य है। इसके अतिरिक्त जयपुर अभिलेख संग्रह को इतिहास और पुरातत्व के ज्ञाता विद्वानों को देखने, तथा उसमें के अभिलेखों को प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाए तो राजस्थान के इतिहास पर नूतन प्रकाश पड़ सकता है।

—नाथूलाल व्यास

मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह की युद्ध नीति तथा रणकौशल

(ले० आर्य रामचन्द्रजी तिवारी M A., LL B , अध्यक्ष, इतिहास एवं राजनीति विभाग,
प्रताप कॉलेज, अमलनेर, etc)

महाराणा उदयसिंह को 'कायर' कहने के समान इतिहास में कहीं पर भी अन्याय नहीं हुआ। स्मिथ (Smith) निर्दयता पूर्वक यह दोषारोपण करता है। उसने प्रमाण माना है, टॉड (Tod) के मत को जो केवल चित्तौड़ के किले से निष्कासन पर आश्रित है। इन विद्वानों ने इस निष्कासन को भागना (Flight) माना है। बहुत से भारतीय विद्वान इस मत से सहमत हैं। किन्तु इनके लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं है। यहां तक कि मुसलमान समकालीन इतिहासकारों से भी इस मत की पुष्टि नहीं होती है।

तारीख-ए-आल्फी मे मौलाना अहमद कहते है कि-

राणा अपनी स्वकीय शक्ति से परिचित था, और जब बादशाह उसके प्रदेश से १०० कोस दूर था, वह अपने कुटुम्ब को लेकर दूर पहाड़ो में **भाग गया** (इलियट; जि० ५, पृ०१८०)।

तबकाते अकबरी मे निजामुद्दीन अहमद ने लिखा है—

'जब बादशाह ने गागरून से प्रस्थान किया, तब राणा उदयसिंह सात या आठ हजार सैनिकों ने जयमल की अध्यक्षता मे .... चित्तौड़ की रक्षा के लिए छोड़ दिया। राणा ने स्वयं अपने कुटुम्बियो और आश्रितो सहित पहाड़ियों में **आश्रयलिया** (Took refuge) । (Ulliof Vol. V P 325) ।

अबुलफजल का अकबर नामा मे कथन है-

'महाराणा ने चितौड में पाच हजार वीर राजपूत सैनिक छोड दिये और निकटवर्ती प्रदेश का विनाश कर दिया, जिससे खेतों में घास तक नहीं बची और स्वय पहाडियों की घाटियों में चला (Retired) गया ।

आइने अकबरी में अबुलफजल बतलाता है–

'राणाने जयमल को, जिसने मेरता की रक्षा की थी, दुर्ग रक्षा का भार सुपुर्द कर दिया तथा स्वय पहाडों में हट (Witdhrew) गया, (जि० २, पृ०६७८

मासिरु उल–उमरा में बतलाया है–

'राणा पहाडियों में छिप गया (पृ० ७६२)' ।

फरिश्ता उल्लेख करता है कि–

'राणा आठ हजार राजपूत और प्रचूर सामग्री क़िले में छोड कर सकुटुम्ब दुर्गम्य प्रदेश में चला (Retired) गया (जि० १, पृ०६५–८) ।

मौलाना हादी इसे भागना न मानकर पीछे हटना मानते हैं ।

इसका अर्थ– यह हुआ कि

(१) केवल मौलाना अहमद ही भागना कहते हैं, शेष सब विद्वान् 'आश्रय लेना', 'हट जाना' या 'चला जाना' मानते हैं ।

(२) उदयसिंह दुर्ग में प्रचुरमात्रा में रसद तथा सैनिक-रक्षार्थ छोड गये थे ।

मुसलमान इतिहासकार इस युद्ध में अकबर की विजय होना बतलाते हैं, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि राजपूत इतिहास उदयसिंह की विजय होना कहते हैं–

भूपालोदयसिंहस्य, यशोधर्मच तजगत १
गायतिगुणित शश्वद्गुणोल्लोकोत्तरानपि ॥ ४ ॥
(विश्व वल्लभ)

ऐसी परिस्थतियों में अधिक यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इस रण में राजपूतों की हार हुई तो फिर यह युद्ध अकबर द्वारा जीता गया । यह कभी भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है ।

× × ×

अकबर ने चित्तौड़ के क़िले के साथ-साथ मेवाड़ के अन्तर प्रदेशों पर भी हमले किये थे। उसने हुसैनकुलीखां और आसफ़खां आदि वीरों को यह कार्य सुपुर्द किया था। अबुलफजल का कथन है-

"जैसा कि राणा को उदयपुर और कुम्भलमेर की तरफ गया हुआ बतलाते थे, हुसैनकुलीखां बड़ी सैना के साथ उसका पीछा करने को भेजा गया। हुसैनकु-लीखां उदयपुर आया, जो कि राणा की राजधानी थी और बलवाइयों को मार गिराया। जब-जब उसने उदयपुर में बलवाइयों के संगठन के बारे में सुना, या कुम्भलमेर के पहाड़ी इलाके में, तब-तब उसने अपनी तीक्ष्ण तलवार की बिजली में उनका खात्मा किया। उसने राणा की बहुत खोज की, लेकिन उस भ्रमणशील (Vagabond) का कुछ पत्ता न लगा और राजाज्ञानुसार लौट आया।" (अकबर नामा जि०२, पृ० ४६५)

दूसरा आक्रमण रासपुरा पर हुआ। अलबदौनी लिखता है—

"आसफखां राजपुरा को गया, जो इस क्षेत्र में बसा हुआ प्रदेश है और दुर्ग को आक्रमण द्वारा जीता, तथा उक्त प्रदेश को उजाड़ दिया।" (जि०२, पृ०१०५-६)

इस प्रकार दोनों बड़े सैनिक अधिकारी अपने-अपने दल-बल सहित शीघ्र ही लौट आये। इससे यह बात प्रकट हो जाती है कि मेवाड़ी सेना की सरगर्मी के कारण ये मुगल सैनाधिकारी कहीं भी सैनिक चौकी या वास्तविक विजयध्वज स्थापित करने में असफल रहे। देखिये मेरा लेख, The Guerilla warfare of 1569 जो प्रतापकॉलेज पत्रिका जिल्द ८ वीं, संख्या १ में प्रकाशित हुआ है।

इससे यह प्रत्यक्ष है कि जैसा अलबदौनी कहता है कि "हुसैनकुलीखां ने उदयपुर की तरफ की यात्रा की और उसके आस-पास के प्रदेश को उजाड़ दिया; लेकिन राणा उस स्थान को त्याग कर भूल भूलैया के समान चूहे के बिल में भाग गया (जि० २, पृ० १०६), यह असत्य है। छिप जाने के बजाय राणा उदयसिंह सैना को शिक्षा देकर, उसका नेतृत्व करते हुए मुगलों को कष्ट दे रहा था। मुगल सैना किसी स्थान पर कब्ज़ा करती तो उस समय मेवाड़ी सैनिक भाग जाते। फिर थोड़े समय बाद लौट कर आ पहुंचते और आक्रमणकारियों

को भगा देते थे। तथा वहाँ पर पुन अपना अधिकार स्थापित करने में कभी न चूकते थे।

राजस्थान में यह नयी युद्ध नीति राणा उदयसिंह के नेतृत्व का ही फल था, जो उसके पूर्वज राणा हमीरसिंह की आजमाई हुई थी और इस ही युद्ध नीति के फल स्वरूप प्रसिद्ध चितौड दुर्ग और उसके आस-पास के इलाके पर जो दिल्ली के तुगलक सुल्तानों के अधिकार करने में वह (राणा हमीर) कृतकार्य हुआ था। उदयसिंह ने भी उसही नीति का अवलम्बन कर शक्तिशाली मुगल बादशाह अकबर का मेवाड़ के पश्चिमी प्रदेश में कुछ ही प्रभाव न बढ़ने दिया और वह उसे थाती रूप में अपने पुत्र सुप्रसिद्ध राणा प्रताप को सौंप गया, जिसका पदानुसरण कर उस प्रताप ने महान् कीर्ति स्थापित की। इस समय मारो और भागो, यही वीर सैनिकों का कर्म था। शत्रु दल पर राणा की धाक जम गई। अकबर को इस अन्तर प्रदेशीय युद्ध में बडी हानि उठाना पडा। चितौड के घेरे के समय होने वाली हानि और इधर यह हानि इन दोनों ने मिलकर अकबर के उत्साह को घटा दिया (देखिये मेरा लेख, प्रताप कालेज पत्रिका, जि० ८ स० १, पृ० ६)।

इस प्रकार मुगल आतंक से मेवाड को रहित करना, राणा उदयसिंह की ऐसी बड़ी सेवाएँ हैं, जिससे वह अपने नाम के साथ 'महान्' की उपाधि से विभूषित होने के योग्य हैं। कहना पडेगा कि राणा उदयसिंह ने इस युद्ध नीति का उपयोग अच्छे ढग से किया, जिसके कारण उसको उक्त नीति का आविष्कारक भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। वस्तुत यह युद्ध शैली राजपूत जाति के परम्परागत भूमि अधिकार के विशेष सिद्धान्तों के आधार पर ही निश्चित हुई और उस सिद्धान्त को अच्छे ढाँचे में ढाल कर अपनी सेना की रचना का उसने एक सुन्दर रूप दिया। जिसके फल स्वरूप अर्थात् इस नवीन रचना और क्रान्तिकारी व्यवस्था के ही कारण महान बलशाली अकबर को उदयसिंह ने छोटी सी सेना की सहायता से रण विमुख कर दिया। यह युद्ध इस वजह से भारत के इतिहास में बहुत महत्त्व पूर्ण घटना है कि यह प्राचीन और अर्वाचीन युद्ध कला के बीच तुमुल युद्ध था। अर्वाचीन ने प्राचीन पर विजय प्राप्त की और मेवाड़ बच गया। उदयसिंह के जीवन काल में अकबर ने फिर मेवाड की तरफ झाँकने की हिम्मत नहीं की। वान नूर (Van Noer), जो कि अकबर का अत्यधिक प्रशंसक

है, कहता है कि "राणा ने आत्मसमर्पण नहीं किया, क्योंकि वह अपने गुप्त स्थान से बाहर नहीं निकला, इसलिये वह कुछ दिनों के लिए असन्तप्त छोड़ दिया गया।" (Emperor Abkar Vol 1. P. 170) ।

अकबर द्वारा यह उदयसिंह को उच्चाति उच्च सम्मान था। इस कारण भी हम उदयसिंह की युद्ध नीति तथा रण कौशल का अनुमान लगा सकते हैं।

उदयसिंह की युद्धनीति तथा रण कौशल—

पहले तो यह आवश्यक है कि युद्ध नीति(Strategy) और रणकौशल (Tactics) के अन्तर का हृदयंगम किया जाय।

रणनीति एक विशाल क्षेत्र है। इसमे सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी सब शक्तियों को काम में लेकर शत्रु पर अन्त में विजय प्राप्त करने की चेष्टा देखी जाती है। रणकौशल या रणयुक्ति इस युद्धनीति का किसी विशेष अवसर पर आचरित करने का नाम है।

उदयसिंह की युद्ध नीति थी, शत्रु सेना को अधिक से अधिक त्रास देना। इस प्रकार जब दुश्मन त्रस्त हो, तब हमला करना, जब वह लौटने लगे, तब पीछा करना और क्रम से शत्रु की मनोवैज्ञानिक पराजय का पूरा-पूरा लाभ उठाकर उसको मार भगाना। इस तरह अन्त मे अपनी विजय पताका फहराना, उदयसिंह की युद्ध नीति का लक्ष्य था।

इस ही प्रकार महाराणा उदयसिंह की रणयुक्ति थी, मुगलों के क्षीण केन्द्रों पर आक्रमण करना और इस तरह शत्रु से एक ही रण में न जूझकर धीरे-धीरे उसकी शक्ति का नाश करना। क्योंकि इस प्रकार के गुरिल्ला युद्ध मे जमकर लड़ाई तो होती ही नहीं है।

रणकौशल के हिसाब से जब शत्रु मेवाड़ के प्रदेश मे प्रवेश हुआ, तब मेवाड़ी सैनिक उनके सामने पीछे हट गए (cf अकबर नामा, जि० २, पृ० ४४४) और शत्रु को असावधान देख फिर लौट-आये तथा खोये हुए देश पर कब्जा कर लिया। वे मुगलों पर आक्रमण कर उनकी रसद को नष्ट कर देते थे। इस तरह वे मुगल शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित न होने देते थे। इन्ही क्रियाओं से भय-

भीत होकर अकबर को अपनी सैना का निर्केन्द्री करण करना पडा, जिसका प्रभाव चित्तौड पर घेरा डालने वाली सैना पर घातक हुआ।

नित्य प्रति के युद्ध से जो अमूल्य अनुभव मेवाडी सैनिको को प्राप्त हुआ, उसने इनको और भी अजेय बना दिया। उनको दुश्मन की रणयुक्ति आयुध तथा गति विधि की पूर्ण जानकारी रहती थी। इससे ये उनकी कमजोरियाँ ढूढ लेते थे और अपने आपको बचा लेते थे, अब यह सीसोदिया सैना केवल बहादुरों का जमघट ही न रह कर धीर और दूरदर्शी सैनिकों का सगठन बन गया और ये गुरिल्ला युद्ध में सिद्ध हस्त बनगये। इन्होंने न केवल उदयसिंह, बल्कि प्रताप के समय में भी मेवाड की रक्षा की। प्रताप सिर्फ उदयसिंह का शारीरिक पुत्र ही न था प्रत्युत् वह उसका मानसिक उत्तराधिकारी भी था। इसने उदयसिंह की नीति पर चल कर ही अकबर के दात खट्टे किये।

गुरिल्ला युद्ध का फल—

इस युद्ध नीति के अनुसार न सिर्फ सैनिक, बल्कि सारी प्रजा युद्ध करने लगी। जनता के सहयोग के बिना गुरिल्ला युद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सैना में और प्रजा में सहयोग हो जाने के कारण पहली बार मेवाड के इतिहास मे वास्तव में जन युद्ध लड़ा गया। जनता को मुगल विरुद्ध मोर्चों पर लगाकर उदयसिंह ने एक नये मनोवैज्ञानिक तत्व का श्री गणेश किया और ज्यों ज्यों जनता लडाई में उतरती गई, उतनी ही उनकी देश भक्ति बढती गई। और उतने ही अशों मे उनकी मुगलो के प्रति घृणा तीव्र होती गई। इस प्रकार सैना, प्रजा और राज्य में अन्तर मिट गया एव पूर्ण तथा सम्पर्क इन तीनों में कायम हो गया। पर यह समझना गलत होगा कि गुरिल्ला युद्ध चित्तौड़ के दुर्ग के बाहिर तक ही सीमित था, और इसका प्रभाव दुर्ग की प्रजा तक नहीं पहुचा। सत्य तो यह है कि इसकी शिक्षा अकबर की चढ़ाई के पहिले ही दे दी गई थी। इस युद्ध के समय तो यह शिक्षा कार्यान्वित हुई। अबुल फजल कहता है कि–

"३ मुहर्रम सन् ७०३ को जब सुलतान अलाउद्दीन ने ६ मास और ७ दिन (घेरे के) बाद किला जीता, तब उसने यहा की प्रजा को तलवार के घाट उतारा क्योंकि वे युद्ध करने में सम्मिलित नहीं थे। लेकिन इस समय उन्होंने बहुत उत्साह

और कर्मण्यता दिखाई थी। विजय के बाद उनकी सब तर्क बेकार रहीं तथा कत्ले आम की आज्ञा देदी गई (जि० २, पृ० ४७५)"। इससे प्रजा और सेना का निकट सम्पर्क अच्छी तरह प्रकट हो जाता है।

इस घनिष्ट सम्पर्क के कारण प्रजा, सेना और राजा दोनों की कार्यवाही को समझने लगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार और उसके सहयोगी (अफगान एवं दूसरे शरणार्थीगण) व प्रजा तथा सेना के बीच गहरा सम्बन्ध हो गया। इस प्रकार मेवाड़ी प्रजा तथा राज्य, एवं मुसलमानों ने मिल कर मुगल साम्राज्यवादी सेना का वीरता पूर्वक सामना किया (देखिये 'अकबर नामा' जिल्द २, पृ० ४७०)। यह सीसोदिया-मुसलमान मैत्री राणा सांगा के समय की आकस्मातिक और स्वार्थ जन्य दोस्ती से भिन्न कोटि की थी। इस समय दोनों अंगों में सहानुभूति तथा विश्वास था। इस कारण हमें इस समय राणा सांगा के सैन्य सगठन की तरह तू-तू-मैं-मैं नहीं देख पड़ती, जिसका कि दिग्दर्शन अहमद यादगार की तवारिख तारीख-ए- सलातीन-ए अफगाना में मिलता है (देखिये इलियट, ज़िल्द ५, पृ० ३६)। इस तवारीख में हसनखां मेवाती की मृत्यु सांगा-बाबर षड्यन्त्र का फल बताया गया है। जो असभव नहीं है। उदयसिंह के पीछे महाराणा प्रताप ने भी पिता की राष्ट्रीय नीति को अपनाया। इससे सीसोदियो द्वारा आरम्भ किया हुआ यह स्वतन्त्रता का युद्ध राष्ट्रीय युद्ध हो गया। जो विद्वान् इस स्वाधीनता यज्ञ मे संकीर्ण स्वार्थ नीति देखते है, उनको पुनः अपने मत को दुहरा कर देख लेना चाहिये। यह उदयसिंह की मुसलमानों के प्रति मैत्री तथा सौजन्यता पूर्ण व्यवहार का फल था, 'अफगानो की मेवाड़ भक्ति।' हल्दीघाटी के युद्ध मे प्रताप की सेना का बायां हरावल अफगान वीरो द्वारारचित था (देखिये वाननूर रचित अकबर बादशाह पृ० २४८)। इस प्रकार मुसलमानों का प्रताप की छत्र छाया मे मेवाड़ की स्वतन्त्रता के रक्षणार्थ अकबर का मुकाबला करना एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है, जिसके लिए मेवाड़ की प्रजा सदैव अपनी वक्षस्थल फूला कर चल सकती है। इस नीति को उसके वंशधरों ने भी निभाया और महाराणा राजसिंह (प्रथम) का एक सैनापति मलिक शेरखां नामक पठान था, जिसका बर्णन उक्त महाराणा के जारी किये हुए एक पर्वाने (फरमान) मे मिलता है।

सेना, प्रजा और राजा के बीच गहरे सम्बन्ध का दूसरा फल यह हुआ कि

सेना अब निरंकुश सरकार की कार्यवाही का यन्त्र न रही। वह तो अब सामाजिक चेतना का महत्वपूर्ण अङ्ग बन गई। उसका काम केवल युद्ध में आगे बढ कर प्राण देना ही नहीं रह गया। जनता में नई चैतन्यता का प्रसार भी सेना के कर्तव्य का आवश्यक अङ्ग बन गया था। गुरिल्ला दल में सभी जाति तथा स्तर के लोग भरती हो जाया करते थे। उनको जनता, अन्न-वस्त्र तथा मार्ग दर्शन, रसद पहुचाना, सम्वाद पहुचाना आदि सहायता निरन्तर दिया करती थी। यथा अवसर सैना व्यय के लिए धन लिया जाता था, जिसका भार भी जनता पर ही था और वह 'सैना बराड' नाम से उगाहा जाता था। इस प्रकार लडने वालों और न लडने वालों के बीच अन्तर बहुत कम हो गया। इससे मुगलों को बहुत हानि हुई। इसही के द्वारा चिढ़ कर तथा इस नई राजनैतिक चैतन्यता को दबाने के लिए चित्तौड में अकबर ने कत्ले आम करके इस नई शक्ति से उत्पन्न उसके हृदयास्थित भय को प्रकट किया।

इस जन सैना का युद्ध मन्त्र था 'मारो और भागो'। ऐसी सेना को मनुष्यों की कमी नहीं पड सकती। यही कारण है कि महाराणा प्रताप तथा अमरसिंह को लडने वालों की न्यूनता नहीं हुई। मुगल सैना और मेवाडी सैना में कोई साम्य नहीं था। मुगल सेना वैतन पर लडने वाले सिपाहियों का दल था और और मेवाडी सेना देश प्रेमियों की इकाई थी। इसके सैनिकों में तीव्र चैतन्यता थी तो उधर शिथीलता। इस तरह सख्या में कम होते हुए भी परिणाम के नाप से वह सैना महान थी। प्रजा, सैना और शासक, मुगलों से सदा बदला लेने के लिए आतुर रहा करते थे। यही आतुरता इनमें एक सजीव सम्बन्ध का रूप ग्रहण कर मेवाड के कौने-कौने में देशभक्ति का पाठ पढा रही थी। मुगलों के विरुद्ध नि सन्देह यह एक महान भयकर नारायणास्त्र था। यह वह वीर सैना थी, जिसको प्रत्यक्ष रूप में रण में विजय नहीं मिलने पर भी, स्वतन्त्रता का मूल्य अकित करने में पूर्ण विजय मिली। युद्ध के अवसर पर बार बार भागने पर भी 'रणछोड' की उपाधि पाकर वह अजेय रही और इस स्वतन्त्रता के युद्ध में अन्त में उसको ही विजय का सेहरा मिला।

अब तक की युद्ध प्रणाली एक रण सघर्ष पर स्थिर थी। यहाँ तक कि राणा सागा ने भी बाबर से युद्ध एक रणनीति पर ही लड़ा था। जब यह प्राचीन

प्रथा को छोड़ कर उस युद्ध को वह रणमुखी बनाना चाहता था, पर उस समय उसके मन्त्रियों ने इस नवीन नीति से भयभीत होकर उसे विषपान करा दिया। ऐसी परिस्थिति मे उदयसिंह का गुरिल्ला युद्ध एक प्रकार से नया ही आविष्कार था, जो युद्ध और रण मे प्रयत्नतः असमानता बतलाता था। उदयसिंह की सामरिक नीति में एक विशेषता यह भी है कि उसने मेवाड़ की वीर प्रजा को एक नया पाठ पढ़ाया, जिसके द्वारा अब मेवाड़ की युद्ध नीति में लड़ाई हारने और युद्ध में विजित होने में अन्तर किया जाने लगा। साथ ही साथ उसने यह भी सिखलाया कि राजा का ध्येय युद्ध जीतना होना चाहिये। किसी लड़ाई में हार या जीत के विषय मे उसको भावुक नहीं बनना चाहिये।

इस ही भाँति उसने सेनाधिकारियों और सैनिकों को समझाया कि युद्ध अन्त नही साधन है। युद्ध में विजय प्राप्त करना ही प्रत्येक स्वस्थ राज की नीति होनी चाहिये। इस प्रकार राष्ट्र भक्तो का कर्त्तव्य युद्ध भूमि मे प्राणोत्सर्ग नहीं, बल्कि युद्ध मे विजयी बनना चाहिये। इस विजय को हस्तगत करने के लिए ही सैनिकों को तथा राजा को विशेष चिन्तित रहना चाहिये और इस चिन्ता को मिटाने के लिए युद्ध के नियमों का पालन करना चाहिये। युद्ध का पहिला नियम है, युद्ध स्थल का औचित्य। अगर कोई स्थान सामरिक दृष्टि से योग्य नहीं है तो उस स्थान को छोड़ कर किसी अन्य स्थान को युद्ध केन्द्र बनाना, भागना नहीं कहा जाता, यह तो युद्ध कौशल है। इस प्रकार परिस्थिति वश आगे बढ़ना या पीछे हटना तो विजय लाभ के लिए आवश्यक है। किसी नीति के अन्तरगत स्थान्तन्तर करना और हार कर भाग जाने में बहुत अन्तर है। उदयसिंह के बतलाए हुए युद्ध के अन्तर को मेवाड की जनता और सैनिको ने भली प्रकार से समझ लिया राणा ने युद्ध में प्रणोत्सर्ग करने के अभिलाषी वीरों को समझाया कि आत्म बलिदान नहीं, बल्कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा ही वीरों को शोभा देती है। इस प्रणाली को ही प्रताप अपने पिता के जीवन काल मे तथा अपने राज्य काल में पालता रहा। यदि इस नीति मे थोडी सी भी कायरता की गन्ध होती तो वीर शिरोमणि प्रताप, प्राण छोड़ देता, पर क्लीव पुरुषो का मार्ग ग्रहण नहीं करता।

ऐसे युद्ध मे बहुत से तत्त्व सम्मिलित रूप से काम करते हैं। इसलिये समय

इसमे बहुत ही आवश्यक वस्तु है। जितना दीर्घकालीन युद्ध, उतना ही अधिक प्रजा में चैतन्यता का प्रसार और उससे भी अधिक राजा को नागरिक उद्योगों में प्रजा का सहयोग दान। यह परिस्थिति वस्तुत मेवाड में उदयसिंह ने ही उपस्थित की। मुगल सेना मैदान के युद्ध में एक रण, युद्ध सिद्धान्तानुसार शिक्षित थी। अकबर ने अपनी सेना की इस श्रेष्ठता को ध्यान में रख कर उदयसिंह को मेवाड की सेना सहित एक मैदान की लडाई में हराने की चेष्टा की। अबुलफजल लिखता है कि–यद्यपि शाही सेना संख्या में कम दीखती थी, तो भी ईश्वरीय सहायता में विश्वास करके और शुभ सहायकों के मिलने की सम्भावना में विश्वास करके, (सेना को) आगे बढने की आज्ञा इस विचार से दी कि यह सुन कर कि (शाही) सेना बहुत कम है, (राणा) शायद घाटियों में से निकल आवे, और इस तरह आसानी से हराया जा सके" जि० २, पृ० ४६४)। तारीख-ए-अल्फी में भी उल्लेख है–"जब गागरून से शाहशाह ने राणा की तरफ कूच किया, उस समय उसके साथ तीन या चार हजार ही घुड सवार थे, क्योंकि उसने चाहा था कि यह सेना की न्यूनता उस काफिर को खुली लडाई लडने को बाध्य करे।" (इलियट, जि० ५, पृ० १६९–७०)। पर राणा उदयसिंह ने अकबर की चेष्टा का सफल प्रतिकार किया। साथ ही साथ उसको पर्वतीय प्रदेश में युद्ध करने को बाध्य किया, जहा मेवाडी सेना शक्तिशाली थी और मुगल सेना कमजोर। इस नई परिस्थिति में मुगल सेना घबरा गई। उदयसिंह की युद्ध नीति के इस पहलू को नजर अन्दाज कर के वान नूर (V n Nur) कहता है कि–

It was only with three or four thousand Cavalry that Akbar first [illegible] against Chittor, hoping by the small[illegible] of his force to tempt the Rana [illegible] encounter in the open, [illegible] degenerate heir [illegible] of the [illegible] 'Sanka' [illegible] his faithful [illegible] (Akbar, vol I, p 159)

इस वक्तव्य के विरुद्ध अबुलफजल के 'अकबर नामा' भा [illegible] २, पृ० ३६८ पर लिखिये। जब चित्तौडगढ की सेना ने [illegible] उस समय [illegible] करता हुआ अबुलफजल कहता है कि "बहुत से अधिकारियों ने इस प्रस्ताव को [illegible] और [illegible] के अनुसार [illegible] किया [illegible] कि इस सन्धि द्वारा वे इस कठिन कार्य से [illegible]।"

उपरोक्त कथन से प्रकट है कि सेना तथा सम्राट् के बीच एक मनोवैज्ञानिक खाई पड़ गई थी। यही कारण था कि चितौड़ का किला विजय करने के बाद भी अकबर यात्रा का बहाना करके मेवाड़ से निकल आया और फिर उदयसिंह के जीवनकाल में लौट कर नहीं आया। इसका कारण था. चितौड़ विजय में पूरा धन-जन नष्ट होने के साथ ही पर्याप्त समय लगा था। यह चितौड़ की विजय अकबर को बहुत ही महंगी पड़ी और वहां से कोई भी विजय सूचक चिन्ह हाथ नहीं लगा, जिसका संसार में मूल्य हो। वहां का अपूर्व संगठन और निःशस्त्र प्रजा का विदेशी शासन को स्वीकार न करना और हजारों व्यक्तियों का कत्लेआम द्वारा मौत के घाट उतारे जाना बादशाह को एक प्रकार से चुनौती थी कि मेवाड़ को विजय करना और प्रजा पर शासन करना सरल नहीं है। चितौड़ हस्तगत हो जाने के पीछे ऐसा भी पाया नहीं जाता कि राणा उदयसिंह का पीछा करने के लिये कोई शाही सेना भेजी गई हो। क्योंकि उदयसिंह ने पहाड़ों में पहुंच दीर्घकालीन युद्ध की तैयारी करली थी, जिसको पार पाना बड़ी कठिन बात थी। (उदयसिंह) उसने चितौड़ छूटने के पीछे पार्वतीय प्रदेश के नाकों-घाटों को रोक-सुदृढ़मोर्चा बन्दी कर अपने को अजेय बना लिया था। बादशाह की आज्ञा से चितौड़ आक्रमण के समय राणा का पता लगाने के लिए हुसेन कुलीखां शाही सेना के साथ भेजा गया, पर वह उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। बल्कि यह भी सन्देह है कि वह वर्तमान उदयपुर तक भी पहुँच सका हो; क्योंकि देवारी से आगे का भाग पहाड़ों के आजाने के कारण सुदृढ़ दुर्ग प्राकार रूप में बन रहा था, तथा प्रवेश द्वार तंग दर्रे के रूप मे थे कि आगे बढ़ने पर वह मेवाड़ी राष्ट्रीय सेना द्वारा मारा जाता। मुगल सेना मे स्पष्टतः इस समय मनोबल की हीनावस्था हो रही थी और बादशाह का कोई भी मन्त्री राणा से लड़ने मे उत्साह न रखता था। इस मनोवैज्ञानिक परिवर्तन का भेद मिलने पर मेवाड़ी सेना ने और भी तीव्र आक्रमण आरम्भ किये, जिससे मुगल सेना जो कि अकबर के साथ साथ पैदल अजमेर की यात्रा करने निकली थी (देखिये अकबर नामा जि०२, पृ०२७७-८) उसको शीघ्र ही अकबर को घोड़े पर बिठलाकर मेवाड़ से निकल जाने का षड्यन्त्र करने को बाध्य किया। (देखिये मेरा लेख प्रताप कॉलेज पत्रिका वर्ष ८, संख्या १ पृ० ६। मुझे तो यह कहने मे संकोच नहीं होता, अकबर का चितौड़ विजय का सेहरा अजमेर के ख्वाजा सहाब पर रखना, मिन्नत मांगना आदि स्पष्टतः

मुगलदल की मानसिक तथा अन्य प्रकार की कमजोरी के ही लक्षण हैं और मेवाडी सैना द्वारा शाही सेना की बहुत भारी क्षति होना प्रकट होता है। अबुल-फजल के लेखानुसार मेवाडी सैना के प्रहारों से कई बार अकबर के प्राण खतरे में पड गये थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मुगलसेना की अपेक्षा मेवाडी सैना सजीव थी और उसका नैतृत्व सुचारु रूप से हो रहा था। यही नीति प्रताप ने भी अपनाई और इतिहास प्रमाण है कि प्रताप के अन्तिम ११ वर्ष शान्ति पूर्वक निकले। अकबर को दूसरी बार मेवाड विजय की आकांक्षा छोडनी पडी (देखिये-उदयपुर का इतिहास, लेखक डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा, जि०१, पृ०४६०-१)।

ऐसा दीर्घकालीन बहुतत्वमयी शीत युद्ध भी होता है, जिसमें सफलता सामरिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा अन्य तत्वों पर निर्भर रहती है। इनमें से कोई भी तत्व युद्ध को जीत नहीं सकता। इसलिए इनके समन्वय की आवश्यकता होती हैं, जिसके लिये नैतृत्व एक महत्वपूर्ण वस्तु है। जैसा इन भिन्न-भिन्न तत्वों में सहयोग पैदा कराता है और किसी एक तत्व की कमी को बुद्धिबल से और दूसरे तत्वों से पूरी करता है। इसलिए बुद्धि बल तथा समय कौशल इस प्रकार के युद्ध के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। उदयसिंह में ये गुण प्रचुरमात्रा में विद्यमान थे।

दीर्घकालीन युद्ध मेवाडी लोगों को विजयलाभ के लिए अत्यन्त आवश्यक था। यह अन्तिम विजय में सहायक भी था। एक रंग युद्ध कला विशारद मुगल सैना को इस प्रकार के युद्ध सचालन से बहुत क्षति हुई। दीर्घकालीन युद्ध को उचित रूप से चलाने के लिये आवश्यकीय धन समस्या को उदयसिंह ने मुगल प्रदेशों पर हमले कर तथा गुजरात और दिल्ली के बीच व्यापार को जो मेवाड की सीमा में से गुजरता था, उसको लूटकर हलकी। मेवाड की प्राकृतिक रूप रेखा भी इस प्रकार के लिए उपयुक्त थी। ये सब तत्व मुगलसैना के लिए बहुत ही घातक थे। इसका कारण था उनकी खुले स्थल युद्ध में चतुरता और पार्वतीय युद्ध कला में अनुभवहीनता। साथ ही साथ राजनैतिक तत्व भी मेवाड के हित में था, क्योंकि इस समय राजा, प्रजा तथा सेना के बीच युगों में से स्थित अन्तर मिट गया था। अब जनसैना तैयार हो गई थी, जो मुगलों के मार भगाने के लिए प्राण प्रण से प्रयत्नशील थी।

ये सब तत्व उदयसिंह के नैतृत्व के बिना फीके थे। उसने इन सब तत्वों का समानीकरण (Coordination) किया। उसके नैतृत्व के कारण केवल मांडल तथा चित्तौड़गढ़ इन दो दुर्गों को छोड़कर मेवाड़ की जनसैना ने मुगलों को अन्य सब स्थानों से निकाल दिया। महाराणा की कूट नीति का परिचय उनके चित्तौड़ परित्याग कर जंगल में सामरिक केन्द्र बनाने की नीति से मिल जाता है। टॉड ने चित्तौड़ परित्याग का अर्थ सही रूप से न समझने के कारण लिखा है कि—

"With Oodysingh fled the "fair face" which in the dead of night unsealed the eyes of Samarsi, and told him "the story of the Hindu was departing", with him, that opinion, which for ages tumed her walls the sanctuary of the race which encircled her with a halo of glory, as the palladium of the religion and the liberties of the Rajpoots.

(Annals and Antiquaties of Rajasthan, Vol. 1, P. 273)

यह नया सामरिक बिन्दु मुगल सैना की जानकारी में नहीं आया और वे इस गुप्त स्थान का पता भी न लगा सके। महाराणा इस पर्वतीय केन्द्र से युद्ध संचालन सफलता पूर्वक करता रहा, जहाँ वह सब प्रकार से सुरक्षित था। ट्राटर ठीक कहता है कि "महाराणा अपने पर्वतीय प्रदेश में अछूता रहा।" (History of India, P 109)। महाराणा प्रतापसिंह और अमरसिंह ने भी ऐसे ही पर्वतीय प्रदेश को युद्ध केन्द्र बना कर मुगलों से युद्ध किया, अर्थात् इन दोनों राणाओं के समय में भी मेवाड़ सफल रूप से मुगल राज्य का मुकाबला करता रहा, जिससे मुगलों की बड़ी हानि हुई। इनके पीछे भी अमरसिंह के प्रपौत्र महाराणा राजसिंह प्रथम (ई० सं० १६५२-१६८०) ने भी इस ही नीति का अवलम्बन किया, जिसके कारण बलवान औरंगजेब को शीघ्र ही मेवाड़ छोड़ कर अजमेर चला जाना पड़ा।

इन बातों का श्रेय यथार्थ में उदयसिंह को ही है, जिसने मुगलों से भावी युद्ध की नीति स्थिर कर, चित्तौड़ पर ही मुगलों के सामने डट कर लड़ मरना रण कुशलता का सूचक न समझा। एवं बहुसूत्रता, दीर्घदृष्टिता, नीतिकुशलता और रणचातुर्यता का परिचय देते हुए अकबर को चित्तौड़ दुर्ग पर, आनपर मर मिटने वाले वीर राजपूत जयमल, फत्ता आदि से उलझा दिया और वह उदयसिंह

के रण कौशल का ही फल है कि वहाँ प्रत्येक मोर्चा पर ऐसे व्यक्ति नियत किये, जिनमें राष्ट्रीय भावना थी। तदनुसार उन्होंने मुगल दल को बडी क्षति पहुंचाई और अकबर द्वारा दुर्ग विजय कर लेने पर भी दुर्ग स्थित जनता कई भागों में छोटी-छोटी टुकडियों के रूप में बट कर मुगलों से लोहा लेने लगी और जब वह न दबी तो बादशाह कत्ले आम के लिए तत्पर हो गया, जो एक प्रकार से राजपूतों की विजय और मुगल दल की हार अर्थात् खीझना ही है। दुर्भाग्य है कि इस प्रकार के वीर महाराणा को उन्नीसवीं शताब्दी से लगा कर अब तक के इतिहासकारों ने 'कायर' शब्द से लाञ्छित किया है। किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसा क्रान्तिकारी कदम मनोबल विहीन व्यक्ति कदापि नहीं उठा सकता था। इस कारण से भी महाराणा उदयसिंह कायर नहीं, प्रत्युत महान् ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि क्रान्तिकारी कर्म महान् नेता समरशास्त्री ही कर सकते हैं।

हम कह सकते हे कि उदयसिंह के राज्यकाल में राजनैतिक और बौद्धिक स्तर जनता का बहुत ऊचा उठ गया था। राजा, प्रजा तथा सैना में समानीकरण हुआ। राजा और प्रजा में सम्पर्क बढा। तथा मुसलमानों तथा राजपूत देश भक्तों में सच्चे और अच्छे सम्बन्ध स्थापित हुए। यह सब उदयसिंह के नेतृत्व तथा प्रेरणा का ही सुफल था। वह युद्ध कला में सुदक्ष होने से यह भली प्रकार से जानता था कि संघर्ष कालीन युग में प्रजा और सेना के लिए विशेषतः किन किन बातों की आवश्यकता होती है। अस्तु, उसने इन्हीं बातों पर अपना ध्यान अधिकतर केन्द्रित रखा। चित्तौड पर युद्ध के समय दक्षिणी भाग की चित्तौडी टेकरी के ऊपर की तरफ एक सुदृढ बुर्ज बनवाकर वहां शत्रु की सेना मार भगाने के लिए 'जलकला' नामक तोप स्थापित कर अन्य मोर्चों पर भी तोपें लगवाई गई, जिनके चलाने वाले चतुर बिहारी-पठान थे। उसने खाद्य समस्या का सैना और प्रजा पर कभी बुरा प्रभाव न पडने पावे, इस दृष्टि से विशाल उदयसागर झील बनवा कर मेवाड वासियों को स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर कर दिया। महाराणा उदयसिंह इस की नीति से मेवाड उसके काल में ही नहीं, बल्कि उसके उत्तराधिकारियों के समय भी युद्ध नीतिज्ञ तथा रणकुशल सिद्ध होता है। खेद है कि ऐसे महान व्यक्ति तथा उच्च भावना पूरित महाराणा को 'कायर' की उपाधि से विभूषित करना इतिहास के आचार्यों का अन्याय है।[1]

इंगित पुस्तकें–

(१) अबुलफजल; अकबरनामा, (एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित) ।
(२) अबुलफजल; आइन-इ-अकबरी ।
(३) अलबदायूनी; मुंतखबुतवारीख ।
(४) अहमद मौलाना; 'तारीख-ए-अल्फी,' (इलियट, जि० ५) ।
(५) अहमदयादगार; तारीख सलातीन-ए-अफगाना (इ० जि० ५) ।
(६) गौ० ही० ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास ।
(७) निजामुद्दीन अहमद; तबकात-ए-अकबरी (इलियट, जि० ५) ।
(८) प्रतापकालेज पत्रिका; आमलनेर
(९) मुहम्मदकासिम; तारीख-ए फिरिश्ता
(१०) मुहम्मदहादी; तजीकरा-तुस-सलाजीन-ए-चगजाई ।
(११) शाहनवाज खां; मासिरुल-उल उमरा ।
(१२) श्या० कविराज; वीरविनोद ।
(1) Trottoi, History of India
(2) Vann-Noer Emperor Akbar,

सम्पादकीय टिप्पणी

यह निबन्ध हमको जून १९५२ मे प्राप्त हुआ था; किन्तु स्थानाभाव से हम इसको पूर्व प्रकाशित नहीं कर सके। वास्तव मे इतिहास वेत्ताओं ने राणा उदयसिंह के साथ अन्याय किया है। राणा साङ्गा के समय मेवाड की जो शक्ति थी; उसको पुनः उसने स्थापित करने के लिए उद्योग किया। युद्ध नीति का वह पंडित होने के कारण उसने ऐसी युद्ध परम्परा स्थापित की, जिससे अकबर मेवाड को पराजित नही कर सका। वह राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत था, जिसका फल यह देखने में आया कि लगभग तीस हजार तो जनता ही अकबर द्वारा कतल करवाईगई। उसने प्रजा को स्वावलंबन का भी खास जरिया प्रदान किया जो–अब भी विद्यमान है। श्री आर्य रामचन्द्रजी तिवारी, एम०ए०, एल-एल०बी०, प्रोफेसर ऑफ हिस्ट्री एन्ड पोलिटिक्स ने इस विषय पर गवेषणा पूर्ण छान-बीन कर इतिहास वेत्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया है जो बधाई के पात्र हैं।

सभ्यालंकरण ग्रन्थ और उसका रचयिता गोविन्द भट्ट

(लेखक—नाथूलाल भागीरथ व्यास, साहित्य संस्थान, उदयपुर)

अब तक जितने भी हस्तलिखित ग्रन्थों का पता चला है, उनका वैज्ञानिक रूप से विश्लेषण बहुत ही थोड़े विद्वानों ने किया है। भाडार कर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के विद्वान् क्यूरेटर श्री पी० के० गोड़े, एम० ए०, का नाम प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के विश्लेषण के सम्बन्ध में सदैव उल्लिखित रहेगा, जिन्होंने आयु का अधिकांश भाग इस प्रकार के ग्रन्थों के अध्ययन रूपी मन्थन में व्यतीत किया है और बड़ी ही लगन के साथ गवर्नमेंट मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी पूना में सग्रहित कितने ही ग्रन्थों पर अँग्रेजी भाषा के कई प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अपने विद्वत्ता पूर्ण स्वतन्त्र लेखों के रूप में सम्यक् रीति से प्रकाश डाला है। यह श्री गोडे महाशय के परिश्रम का फल है कि हमें उन अज्ञात् प्राचीन ग्रन्थों और उनके रचनाकारों के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

इनमें से आज हम 'गोविन्द भट्ट कृत सभ्यालकरण' ग्रन्थ के विषय में, जिसका श्री गोडे महाशय ने न्यु इन्डियन एटिक्वेरी, जि० ४, सख्या २ फरवरी १९५२ में अपने स्वतन्त्र लेख "Date of Sabhyalamkarna an Anthology, by Govindjit after A D 1656" में परिचय दिया है, अपने कुछ विचार प्रकट करते हैं।

यह तो श्री गोडे महाशय के लेख से ही स्पष्ट है—सभ्यालकरण कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं, प्रत्युत 'सुभाषित रत्नभांडागार' की भाँति उत्कृष्ट विद्वानों की रचनाओं का एक सग्रह मात्र है, जिसमें भानुकर, शिव स्वामिन्, नीलकठ, अमरक श्रीहर्ष, राजशेखर, भट्टकमलाकर, नीपाभट्ट, घटखर्पर, मानुक, अमरचन्द्र, गणपति,

भानुकर मिश्र, विल्हण, लक्ष्मण, रुद्र, भवभूति, धर्मदास, कालिदास, गोवर्द्धन, दंडित्, गदाधर, त्रिविक्रम, नीलकंठशुक्ल, शकवृद्धि, नारायण, निर्मल, मुरारि, माधमिश्र, प्रभाकरभट्ट, भैयाभट्ट, लक्ष्मणभट्ट, अमर, भारवि, माघ, वेद व्यास, भास, रावत्रातंडदेवानंनाम्, क्षेमेन्द्र, किरात्, वररुचि, जयमाधव, उड्डीयकवि, गोपादित्य, भानुपंडित भट्टसोमेश्वर, विकटनितंबा, शार्ङ्गधर, भर्तृहरि हरिहर, कविराज, पाणिनि, रघुपति, राहुक (?) वालिमिश्र, वाल्मीकि, कुमारदास आदि विद्वानों की रचनाओं का अंश है[१]।

इस ग्रन्थ का सर्व प्रथम उल्लेख स्वर्गीय डा० रामकृष्ण भांडारकर ने अपने हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज संबंधी रिपोर्ट ई० स० १८८७-९१ में किया है; किन्तु ग्रन्थ का नाम और संग्रहकार का नाम गोविंदभट्ट देने के अतिरिक्त रचना काल आदि पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है और ऑफ्रेक्ट ने भी केटेलागस केटेलागरम में अधिक कुछ चर्चा नहीं की है। इस कमी को पूरी करते हुए श्री गोडे महाशय लिखते है:—

"The only MS of a work called "sabhyalamkarna" mentioned by Aufrecht is "Rgb 417 (fr) which is identical with MS No 417 of 1884-87 in the Govt. Mss library at the B. O. R. Institute, Poona Sir R G. Bhandarkar in his Report for 1887–91 does not deal with the date of this work. At this work is rhetorical anthology of vrses from poets and works, it has it place in the history of the madiaevl Sanskrit anthologies I propose therefore, to analyse the only MS of Sabbyalamkarna Viz No 417 of 1884–87 and indicate my evidence regarding the limits for its date

The work is devided into numerous Sections called maricis or rays. The name of the auothor is Govindji He was the son of Caku and was resident of Giripura He belonged to the Mevada caste of Medpata (Mewar) as will be seen from the following statement, -

---

१ श्री गोडे महाशय के लेखानुसार पाया जाता है कि यह अपूर्ण ग्रन्थ है और ग्रन्थकारो की नामावली दी है, वह ३७ वे पृष्ठ से आगे नहीं चलती। इस बात को देखते हुए, यह ग्रन्थ लगभग ४० पृष्ठो मे विद्यमान होगा।

folio २ " इतिगिरिपुरनिवासिभट्टचकुतनयम(?)गोविन्दजितसग्रहिते etc"

folio ३ " इति गिरिपुरवर्तिभट्टचकुतनयश्रीमेदपाठमध्यस्थभट्टमेवाडाज्ञातीय गोविंदजित्कृते सारसग्रहे etc"

The title of the work is सभ्यालंकरण (Colophon on folio 9) or सभ्याभरण (colophon on folio 3) the work is compiled some what on the lines of the Rasikjivana of Gangadhara bhatta In fact one Gangadhara is mentioned the author of some verses quoted on folio 12 and 34

A more exact reference, however for purposes of chronology will found on folio 29, where a work called "चिमनीशतक" is mentioned The work appears to be identical with the work 'चिमनीचरित' by Nilakantha Sukla of which two Mss are available in the govt Mss library at the B O R, Institute, Poona I have proved in my note on this work that it was composed in samvat 1712 = A D 1656 The verse from the Cimanisataka quoted by Govindji on folio 29 of the Ms of the Sabhyalamkarna is identical with verse 99 of the Cimanicarita [Ms No 698 of 1886-92] This identity clearly proves that Govindji composed his anthology after A D, 1656 The other limit to the date of Sabhyalamkarna can not be definitely fixed at present but as the Ms of the work appears to be about 150 years old we may tentatively assign Govindjit to the first quarter of the 18th century, if not later ¹

इस ही सम्बन्ध में श्री गोडे महाशय ने पादटिप्पण में और भी स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित उल्लेख किया है —

१ सभ्यालंकरण के बारे में इसके अतिरिक्त उल्लिखित नहीं है, किन्तु उसका रचनाकाल ज्ञात नहीं होता और न प्रति का लेखन काल ज्ञात होता है। [illegible] के निर्देश का [illegible] बताया है। यह अनुमान [illegible] में ठीक ही है, परन्तु निश्चय [illegible] नहीं कहा जा सकता। [illegible] इस सम्बन्ध में [illegible] है, [illegible] पूर्ण [illegible] ।

1. CC. II, 166 Aufrecht mentions another work called सभ्यकण्ठाभरण which seems to be different from सभ्यालंकरण।

2 Vide pp lxii-lxiii of Report for 1887-91. Here we find merely a list of works and authors mentioned in the fragment of Sabhyalamkarna.

3. According to Sir R. G. Bhandarkar "Govindaji" is a Sanskritized form of "Govindaji".

4. I wonder if Giripura is identical with Girinagar. or Girnar in Junagad State.

5. Aufrecht (CCI, 696) records a kavya of the title सभ्याभरण by Ramacandra with a Commentary by Govinda [२] (B. 2110). I cannot say if this commentator Govinda is identical with Govindajit, the author of सभ्यालंकरण.

6. Nilakatha Sukla is the author of the Cimani-carita composed in A.D. 1656 [vide my paper in the Annals (B-O.R.I.) Vol. IX, pp. 331-332] the work चिमनी शतक mentioned by Govindajit on folio 29 of the Ms. is identical with चिमनी चरित। I have evidence to prove that Nilakantha was a pupil of Bhattoji Diksita.

ऊपर के अवतरणों से प्रकट है कि सभ्यालंकरण का संग्रहकर्ता भट्ट चकु का पुत्र गोविंद था। वह भट्टमेवाड़ा जाति का ब्राह्मण और गिरिपुर निवासी था तथा भट्टमेवाड़ा जाति का केन्द्र मेवाड़ में था। गिरिपुर के लिए ताज्जुब है कि वह यदि जूनागढ राज्य के 'गिरिनगर' वा 'गिरनार' से अभिन्न हो। इस ग्रन्थ में अट्ठारहवीं शताब्दी में होने वाले कमलाकर भट्ट तथा नीलकण्ठ शुक्ल की रचनाएँ निर्णयसिंधु और चिमनीशतक को स्थान दिया गया है। अस्तु, वि० सं० की अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रथमपाद के बाद ही यह संग्रह किया गया हो।

---

२ सभ्याभरण (रामचन्द्र रचित) का टीकाकार गोविंद कौन था, इस विषय पर प्रकाश डालने का साधन उपलब्ध नहीं होने से श्री गोड़े ने मौनावलम्बन किया है। आवश्यकता है कि सभ्याभरण के विषय में मूल पुस्तक मंगवा कर अध्ययन किया जावे, तब ही ठीक-ठीक प्रकाश पड़ना सम्भव है।

श्री गोडे के उपर्युक्त निर्णय में से हम इस बात पर तो सहमत हैं कि इस सग्रह को वि०स०की अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद के पीछे, ग्रन्थ के रूप में अंकित किया गया और सग्रहकर्ता गोविंद चकु का पुत्र भट्टमेवाडा ज्ञातीय ब्राह्मण था। मेवाड में मेवाड से निकलने वाली ब्राह्मण एव वणिक वर्ग की कई ज्ञातिया हैं, जैसे नागदा, (ब्राह्मण-वा महाजन) चीतोडा (महाजन), मेणारिया (ब्राह्मण), त्रिवाडी-मेवाडा, भट्टमेवाडा आदि। यह ज्ञातिया अपना उद्गम मेवाड मे ही मानती हैं। यहा भट्टमेवाडा ज्ञातीय का केवल यही अर्थ मेवाडा-ब्राह्मण, अपयोप्त है। दूसरा गिरिपुर की गिरिनगर (गिरनार-जूनागढ स्टेट) से तुलना करना भी ठीक नहीं; क्योंकि गोविंद स्पष्ट अपने को गिरिपुरवर्ती, श्री मेदपाठ मध्यस्थ आदि शब्दों मे सम्बोधित करता है। इससे गिरिपुर की स्थिति मेदपाट (मेवाड) के निकट ही होनी चाहिए, जहाँ इस ज्ञाति की बस्ती थी और अब भी है।

इन दोनों बातों का स्पष्टीकरण करने के लिए हम यहा दो बिन्दुओं पर ही प्रकाश डालने की आवश्यक्ता है- (१) भट्टमेवाडा ज्ञातीय ब्राह्मण और (२) गिरिपुर (नगर)।

मेवाड में बसने वाली ज्ञातियों में मेणार गाव में बसने के कारण वहा के ब्राह्मण, मेणारिया ब्राह्मण, नागदा गाव में बसने के कारण वहा के ब्राह्मण, नागदा कहलाते हैं और महाजनों का एक वर्ग नागदा तथा चित्तौड में बसने के कारण चीतोडा कहलाता है। उस ही प्रकार भट्टमेवाडा ज्ञाति है, जिसके लिए प्रसिद्ध है कि मेवाड के भटेवर नामक स्थान में बसने से यह भट्टमेवाडा नाम से ख्यातिमान हुई[४]। यद्यपि वर्तमान समय में इस ज्ञाति की भाषा और खान पान गुर्जरदेशीय ब्राह्मणों से मिलता है, जिसका कारण यही हो सकता है कि यह ज्ञाति मेवाड से अन्यत्र अर्थात् गुर्जर प्रदेश के निकटवर्ती वागड प्रदेश में जाकर बस गई, जिससे उसके भाषा और खान पान में परिवर्तन होकर उनका सामाजिक जीवन भी वैसा ही बन गया। भट्टमेवाडा ब्राह्मणों की भांति त्रवाडी मेवाडा नामक ब्राह्मणों

---

४ भट्टमेवाडा ज्ञाति की उत्पत्ति विषय में कुछ वर्ष हुए एक ग्रन्थ की रचना हुई है, उसमें इस ज्ञाति का विकास भटेवर गाँव से होना बताया है।

की एक जाति है, जिसका निवास मेवाड़ के दक्षिणी-पहाड़ी प्रदेश में है और उधर से वह गुर्ज्जर प्रान्त में भी जाकर बस गई है। ये सब अपना उद्गम स्थान मेवाड़ से ही मानती हैं और मेवाड़ के भिन्न-भिन्न गांवों के नामानुसार कालान्तर में अलग-अलग जातियां बनगई हैं।

'भट्ट' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वन्दीजनों के लिए प्रयुक्त होता है"; परन्तु यहां उसका अर्थ ब्राह्मण ही होगा और मेदपाट का अर्थ मेवाड़ ही होगा; किन्तु इससे उसको केवल मेवाड़ का ब्राह्मण मानना ही यथेष्ट नहीं है; जैसा कि ऊपर पुस्तक प्रशस्ति में उल्लिखित 'भट्टमेवाड़ा ज्ञातीय' शब्द स्पष्टरूप से गोविन्द को भट्टमेवाड़ा जाति का होना बतलाता है। अस्तु भट्टमेवाड़ा ज्ञातीय शब्द का केवल 'मेवाड़ा-ब्राह्मण' अथवा 'मेवाड़ का ब्राह्मण' अर्थ करने से अधिक स्पष्टीकरण नहीं कर जाति विषयक भ्रान्ति सदा बनी रहेगी। कारण कि मेवाड़ में ब्राह्मणों की अनेक जातियां हैं, जिसमें भट्टमेवाड़ा. तरवाड़ी-मेवाड़ा आदि पृथक-पृथक जातियां हैं।

ऊपर हमने यह संकेत किया है कि मेवाड के भटेवर नामक स्थान में बसने से वहां के निवासी भट्टमेवाडा नाम से विख्यात हुए। भटेवर नामक प्राचीन गांव उदयपुर से पूर्व में लगभग बीस मील दूर है, जो किसी भर्तृहरि नामक राजा द्वारा बसाया हुआ माना जाता है। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कर्नल टॉड भटेवर के विषय में लिखता है—

"We passed the serai of Soirajpoora, a mile to the right, and got entagngled in the swampy ground of Bhartewar This town, which belongs to the chief of Kanorh, one of the sixteen great baron's of Mewar boasts a high antiquaity and Bhartirri, the elder brother of Vicrama, is its reputed founder. If we place any faith in local tradition, the bells of seven hundred

५ 'भट्ट' शब्द के अर्थ विषय में अधिक खींचतान की आवश्यक्ता प्रतीत नहीं होती। सामान्यत यह शब्द उत्कृष्ट पुरुषों के लिए ही प्रयुक्त होता है। कालान्तर में यह शब्द वंशपरम्परा औ जातिवाचक भी बन गया है; परन्तु यथार्थ में वह एक सम्मान सूचक शब्द है, जो उत्कृष्ट पुरुषं के लिए ही व्यवहार में आता था।

and fifty temples, chiefly of the Jain faith once sounded within its walls which were six mile in length, but few vestiges of them now remain although there are ruins of some of these shrines which show they were considerable importance[6]

महामहोपाध्याय डा० गौरीशङ्कर हीराचद ओझा ने राजपूताने के इतिहास में उदयपुर राज्य के इतिहास के प्रसङ्ग में मेवाड के गुहिलवंशी राजा भर्तृपट्ट या भर्तृभट्ट (दूसरा) के विषय में उल्लेख किया है–

"मेवाड का भर्तृपुर (भटेवर गाव), जिसके नाम से जैनों का भर्तृपुरीय गच्छ प्रसिद्ध है, इस इस भर्तृनृप (भर्तृभट) का बसाया हुआ माना जाता है[7]।"

देवलिया प्रतापगढ (राजस्थान) के छोटासर्दी गाव से प्राप्त शिलालेख में उल्लेख है कि "खोंमाण के पुत्र महाराजाधिराज श्री भर्तृपट्ट ने घोंटावर्षी गाव के इन्द्रराजादित्य देव नामक सूर्य मन्दिर को पलासकूपिका (परासिया, मन्दसोर से १५ मील दक्षिण) में गाव का बब्बूलिका क्षेत्र भेट किया[8]।" यह शिलालेख वि० सं० ९९९ श्रावणसुदि १ (ई० स० ९४२) का है। अतएव स्पष्ट है कि मेवाड का गुहिलवंशी नरेश भर्तृपट्ट (भर्तृभट) वि० सं० की दसवीं शताब्दी में विद्यमान था और श्री ओझाजी के लेखानुसार भटेवर गाव को उपरोक्त भर्तृपट्ट ने बसाया हो तो यह वि० सं० की दसवीं शताब्दी के अंतिम भाग तक बस गया होगा[9]। जो भी हो, भटेवर गाव की इससे भी प्राचीनता सिद्ध होती है और यहा से विकसित ज्ञातियों में गुहिलवंश की एक शाखा भटेवरा हुई तथा भट्टमेवाडा जाति का विकास भी भटेवर में हुआ हो तो कोई आश्चर्य

---

६ टाड, एनाल्स एड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान; जिल्द २, पृ० १६२२ (क्रुक सम्पादित)।

७-८ गौरीशकर हीराचद ओझा, राजपूताने का इतिहास, जिल्द १, पृ० ४२४ और ४२६।

९ उदयपुर निवासी बाबू रामनारायण दूगड का कथन है-उदयपुर से २० मील पूर्व भटेवर (भर्तृहरिपुर) गाव में वे भर्तृहरि की गुफा होना मानते हैं। निस्सन्देह भटेवर का बसाने वाला गुहिलवंशी राजा भर्तृहरि था और भटेवर के नाम से गुहिलोतों की एक शाखा भटेवरा कहलाती थी (राजस्थान रत्नाकर, राजपूताने के गुहिलवंशी राजाओं का इतिहास, भाग प्रथम, ताग २, वि० सं० १९७०, ई० स० १९१३, शेष समर पृ० २)।

की बात नहीं है। जैन सम्प्रदाय में भर्तृपुरीय गच्छ का उल्लेख वि० सं० की चवदहवीं शताब्दी के मेवाड़ से प्राप्त शिलालेखों में मिलता है[१०]। अस्तु, परंपरागत कथाओं के अनुसार उक्त गच्छ भटेवर गांव से विकसित होना असंभव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भटेवर गांव में अब भी कई प्राचीन जैन मन्दिरों के खण्डहर वहां की प्राचीन समृद्धि रूप में अवशेष हैं।

कर्नल टॉड के अतिरिक्त पुरातत्वानुसंधान की दृष्टि से इस प्राचीन स्थान को अन्य किसी विद्वान् ने देखा हो, ऐसा पाया नहीं जाता। यदि राजस्थान सरकार का पुरातत्व विभाग खोज की दृष्टि भटेवर गांव में खुदाई का कार्य आरम्भ करे तो बहुत कुछ इस स्थान की प्राचीनता के विषय में प्रकाश पड़कर इतिहास की नवीन सामग्री प्राप्त हो सकती है।

अबरहा 'गिरिपुर नगर' के विषय में–इसके लिए हमें राजस्थान से बाहर दूर सौराष्ट्र प्रान्त में जाने की आवश्यकता नहीं और यह कल्पना गिरिपुर सौराष्ट्र प्रान्त का गिरनार (जूनागढ़) हो, सार युक्त नहीं जान पड़ती। क्यों कि उपर्युक्त सभ्यालंकरण की पुस्तक प्रशस्ति में स्पष्टतः "इतिगिरिपुरवर्त्तिभट्टचकुतनयश्रीमेदपाठमध्यस्थभट्टमेवाड़ाज्ञातीय" पाठ है जिसका अर्थ भट्टमेवाड़ा ज्ञाति का सम्बन्ध मेदपाट (मेवाड़) से होना प्रकट करता है। साथ ही वह गिरिपुर की स्थिति मेदपाट के आस-पास होने का आभास देता है। मेदपाट (मेवाड़) राजस्थान का अङ्ग है, इसलिए गिरिपुर की स्थिति अधिकतया राजस्थान के अन्तर्गत अथवा उसकी सीमा के निटवर्ती हो सकती है। हमारे दृष्टिकोण से 'गिरिपुर' डूंगरपुर नामक कस्बा होना चाहिये, जो पश्चिमी वागड़ का प्रमुख स्थान है।

---

१० संवत् १३३५ वर्षे वैशाखसुदि ५ गुरौ श्री एकलिंगहराराधनपाशुपताचार्यहारीतराशिक्षत्रियगुहिलपुत्र-हलध्न सहोदर्यं च श्री चूडामणीय भर्तृपुरस्थानोद्भवद्विजावविभागातुच्छे श्रीभर्तृपुरीयगच्छेश्रीचूडामणि भर्तृपुरे श्रीगुहिलपुत्र विहारआदीशप्रतिपत्तौ श्रीचित्रकूट-मेदपाटाधिपतिश्रीतेजःसिंहराज्ञाश्रीजयतल्लदेव्या श्रीश्यामपार्श्वनाथ वसही स्वश्रेय से कारिता। .....

चित्तौड़गढ़ से प्राप्त शिलालेख।

राजस्थान में वागड़ प्रदेश का 'डूंगरपुर' नगर चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। 'डूंगर' का अर्थ 'पर्वत' 'पहाड़ और पहाड़िया' होता है, जिसका संस्कृत रूप 'गिरि' है। अस्तु, संस्कृत की पुस्तकों, शिलालेखों आदि में इसको 'गिरिपुर' भी लिखते रहे हैं, जो 'डूंगर' का पर्यायवाची शब्द है। इस 'डूंगरपुर' का इतिहास इस प्रकार मिलता है।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मेवाड़ की वागड़ के पश्चिमी भाग पर भटेवरा शाखा के गुहिल वंशी नरेशों का राज्य था,[11] जिनको वहां से हटाकर अहाड़ा शाखा के गुहिलवंशियों ने अपने अधिकार में लाने का उद्योग किया, जो किंचित् सफल हुआ और मेवाड़ के गुहिलवंशी नरेश सामन्तसिंह ने उक्त प्रदेश पर आधीपत्य जमा लिया[12]। किन्तु भटेवरा गुहिलोत चुप्प न रहे और उन्होंने गुजरात के चालुक्य (सोलंकी) नरेश भीमदेव (दूसरा, भोला भीम) की सहायता प्राप्त कर वागड़ तथा छप्पन प्रदेश से गुहिलवंश की अहाड़ा शाखा का प्रभुत्व हटा दिया[13]। गुजरात के सोलंकियों की अधीनता में कई वर्ष तक भटेवरा गुहिलोत पुनः वागड़ के राजा रहे और उनकी राजधानी बड़ोदा गांव (वागड़ वट पद्रक को) में रही[14]। फिर तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आस-पास अहाड़ा गुहिलोत

---

११ डूंगरपुर के ठाकुरडा गांव के सिद्धेश्वर शिवालय का वि० सं० १२१२ भाद्रपद सुदि २ रविवार का शिलालेख।

समस्त राजावलीविराजित भर्तृपट्टाभिधानश्रीपृथ्वीपालदेवसूनुमहाराजश्रीत्रिभुवनपालदेवतस्य पुत्रीमहाराजश्रीविजयपालदेवतस्यपुत्रोमहाराजश्रीसुरपालदेव प्रवर्द्धमान कल्याण विजयराज्ये।

१२ संवत् १२३६ श्री साम (म) तसिंह राज्ये ।
डूंगरपुर के बोरेश्वर महादेव का लेख, ओझा, गौ० ही० (डूंगरपुर राज्य का इति) जि०३, खंड १, पृ० ३५,

१३ उदयपुर के जयसमंद नामक झील के निकटवर्ती वीरपुर गांव से प्राप्त वि० सं० १२४२ कार्तिकसुदि १५ रविवार का दानपत्र (७ वी, ओ० कॉ० बड़ोदा)।

१४ डूंगरपुर के दीवड़ा और बड़ोदा गांव तथा कुराबड़ व्याट गांव के (उदयपुर जिला) से प्राप्त गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरा, भोला भीम) एवं भटेवरा गुहिलोतों के

वंश के राजा पद्मसिंह (जो संभवतः सामन्तसिंह का पितृव्य होता था) के पुत्र जैत्र-सिंह ने वागड़ और छप्पन प्रदेश से सोलंकियों और भटेवरा गुहिलोतों का मूलोच्छेद कर[१५] अपने ज्येष्ठ पुत्र सीहड़देव को वि०सं०१२७७ (ई०स० १२२०) के आस-पास वहाँ का राजा बनाया[१६]। सीहड़देव का पुत्र विजयसिंह और देदू (देवपालदेव) हुए, जिन्होंने क्रमशः वागड़ का राज्य किया। देवपालदेव का पुत्र वीरसिंह (वरसिंह) हुआ, जो वि० सं० १३५६ (ई० स० १३०२) तक तो निश्चित रूप से विद्यमान था[१७]। उसका पुत्र भचुंड और पौत्र डूंगरसिंह हुआ। डूंगरसिंह ने वागड़ मे बसने वाले भीलो का दमन कर अपने नाम से वर्तमान डूंगरपुर क़स्बे को बसाया,[१८] जो वटपुर (बड़ोदा) के स्थान मे वागड़ की राजधानी होकर ई० स० १६४८ तक पश्चिमी वागड़ प्रदेश का राजस्थान रहा।

शिलालेखों से स्पष्ट है तेरहवीं शताब्दी के मध्यवर्ती युग मे वागड तथा मेवाड़ के छप्पन प्रदेश पर भटेवरा गुहिलोतो का अधिपत्य था और वे गुजरात के सोलंकी नरेशों के अधीन थे। तथा उदयपुर के निकटवर्ती आहाड़ गाव पर भी गुजरात के सोलंकी नरेशों का प्रभुत्व था।

१५ दुर्गं श्री चित्रकूट समप [रमपरं भीषणं भीमदुर्गं]-
चाघाटं मेदपाटं निखिलमपि वरं वागडं-V- -[।]
[श्रीमन्नागहृदेमां विलसति निजदोर्दंड सा [म] र्थ्यतोयः
ख्यातः सोयं [जगत्या चिर] मिह जयताजै (ज्जै) त्रसिंहो नर(रें)द्रः [॥ १५५]
कुम्भलगढ के मामादेव की प्रशस्ति; वि० सं० १५१७ तृतीय पट्टिका।
जैत्रसिंहो जिता एला सीहडे नाखिलो मही।
राजन्वतीबभूवालं सालकाराग निर्वयो॥
डूंगरपुर के ऊपर गांव की वि० सं० १४६१ की श्रेयांसनाथ जैन मन्दिर की प्रशस्ति।

१६ जगत् गाव (उदयपुर जिला) के देवी के मन्दिर का वि० सं० १२७७ का स्तम्भलेख। सेकरोड गांव (डूंगरपुर जिला का) वि० सं० १२६१ का लेख।

१७ बरवासा गाव (डूंगरपुर जिला) का वि० सं० १३५६ का लेख।

१८ डूंगरपुर के बसाये जाने के सम्बन्ध में भी भिन्न २ कथाएं हैं। डूंगरपुर राज्य की ख्यातो में वि० सं० १४१५ (ई० सं० १३५८) मे डूंगरपुर नगर बसाये जाने का उल्लेख है और वि० सं० १३८८-१४१६ (ई० स० १३३१-१६२) तक रावल डूंगरसिंह का राज्यकाल होना बतलाया है। अतएव स्पष्ट है कि रावल डूंगरसिंह द्वारा ही वि० सं० १४१५ (ई० स० १३५८) में डूंगरपुर नामक नगर बसाया गया।

वि० सं० की सोलहवीं शताब्दी से 'डूंगरपुर' को संस्कृत लेखों तथा पुस्तकों में 'गिरिपुर' तथा 'डूंगरपुर' नाम से सम्बोधित किया गया है जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तन्नागरीनयननीरतरंगिणीनामंगीकृत किमु समुत्तरण तुरंगे ।
श्रीकुंभकर्णनृपति प्रचिनीर्णभूपैरालोडयद्गिरिपुर यदमीभिरुम ॥ २६६ ॥
वि० सं० १५१७ की कुम्भलगढ़ के मामादेव की प्रशस्ति ।

(२) संवत् १५३० वर्ष शाके १३९५ प्रवर्त्तमाने चैत्रमासे कृष्णपक्षे षष्ठयां तिथौ गुरु दिने बीलीआ माला सुत रातकालइ मंडपाचल पति सुरत्राण ग्यासदीन आवि डूंगरपुर भाजतइ स्वामि नइ ऊति आपणउ कुल मार्ग्ग अनुपालता वीरव्रतेन प्राण छाडी सूर्यमंडल भेदी सायोज्य मुक्ति पामि ।
डूंगरपुर के रामपोल दर्वाजे के बाहिर गड़ा हुआ लेख ।

(३) संवत् १६०४ शाके १४६९ प्रवर्त्तमाने दक्षिणायने आषाढसुदि १५ शनौ गिरिपुरे महाराजाधिराजरावलश्रीपृथ्वीराजविजयराज्ये ।
डूंगरपुर के दीवड़ा गांव का शिलालेख ।

(४) स्वस्ति श्रीमन् संवत् १६१७ वर्षे शाके १४८३ प्रवर्त्तमाने उत्तरायणगते श्रीसूर्ये ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे तृतीयायां तिथौ सुमुहूर्तयोगे व दिने महाराया रायराउल श्री आशकर्णजी विजय राज्ये एव विधे समये श्री गिरिपुर राजवंश विवर्द्धनसत्कीर्तिसुधाधवलितदिङ्मंडल श्री महाराया राय
डूंगरपुर के बनेश्वर के निकटवर्ती विष्णु मन्दिर की प्रशस्ति ।

(५) अस्ति श्रीमानमानुर्वीमंडलाखंडमंडलं ॥
जम्बूद्वीपगतं स्वर्गे भारतोतिमभागत ॥ १ ॥
तत्रदेशा नृपावेशा वामसति महस्रश ॥
तथापि सप्रशमति गुणा वागडनामभि ॥ २ ॥
पचर्द्धशतानान् ग्रामान विविधाभूतिभूतय ॥
षड्देवालयायत्र यत्रपुण्यजनाश्रित ॥ ३ ॥
यत्र तीर्थान्यनेकानि यत्र धर्म सनातन ॥
तत्रदेशो महानेषो विश्रुत पुण्य वारिणा ॥ ४ ॥
तत्र सर्व गुणैर्देशे निवसे पुण्यकर्मणां ॥
आस्ते गिरिपुरं नाम नगर नगरजित ॥ ५ ॥

डूंगरपुर के सूरपुर गांव के माधवराय मन्दिर की वि० सं० १६४७ की प्रशस्ति।

(५) ..श्रीमन्नृपविक्रमार्कसमयातीतसम्वत १६७६ वर्षे शाके १५४५ प्रवर्त्तमाने वैशाखमासे शुक्लपक्षे षष्ठी ६ तिथौ भृगुवासरे अद्येह श्रीगिरिपुरे महाराज श्रीमहाराउल ५ श्री पुंजाजी नामा श्रीगोवर्द्धननाथप्रीतये प्रतिष्ठासहितप्रासादवरं उद्धरन् ॥

श्री गिरिपुरनगराधिष्ठाता श्रीसूर्यवंशोद्भव महाराउल श्री आशकरणजी तत्पुत्रमहाराऊल श्री सहस्त्रमल्लजी तत्पुत्र महाराऊल करमसींहजी तत्सुत महाराजा धिराज महाराऊल श्री पुंजराजजी संवत् १६७६ वैशाखशुदि ५ दिने श्रीविष्णोःगोवर्द्धननाथजी कस्य गिरपुरीरा प्रसागर सन्निधाने प्रासादाकृता।

डूंगरपुर के गोवर्द्धननाथ के मन्दिर की प्रशस्ति।

स्वस्ति श्रीडूंगरपुर सुभसुथाने राआराश्र महाराऊल श्रीपुंजाजी आदेशात् वसइ ग्रामि पटेल जगमाल साहा महीश्रा तथा समस्त गामलोक तथा समस्त डोलीया ब्राह्मण जोग्य समाहुष्टकार जांचजत ओ ग्राम श्री गोवर्द्धननाथजी-द्वार धरमखाते आचंद्रादिक तांवापत्र मुंकी छे ते अमारे वंश मांहि हुओते पाले नांपाले तथानांपालावि तेने श्रीनाथजीनी आंण दुए श्रीस्वां प्रत दुएसाहांरामजी संवत् १७०० वरपे कारतक शुदी ३ गुरु .... ।

डूंगरपुर के गोवर्द्धनाथनाथ मन्दिर के द्वार वाहिर लगा हुआ लेख।

(६) देशे वागड़नामके नरपतिः श्रीपुंजराजोजनि।
श्रीमड्डुंगरपूर्वकस्य नगरस्याधीश्वरो दुर्जयः॥
केनाप्यत्र न निर्जितो वहुमतिः सत्कोश वांस्तंपुन-
र्यन्मंत्री कृतवान् पराङमुखमहो दग्धंपुरञ्चाकरोत् ॥ ५४ ॥

उदयपुर के जगन्नाथराय के मन्दिर की वि० सं०१७०६ की प्रशस्ति।

(७) जगत्सिंहाज्ञया मन्त्री अखेराजो वलान्वितः॥
स डूंगरपुरं प्राप्तः पुञ्जानामाथ रावलः॥ १४ ॥
पलायितः पातितं तच्चदनस्य गवाक्षकम् ॥
लुंठनं डूंगरपुरे कृतं लोकेरलंततः ॥ १६ ॥

राजप्रशस्ति महाकाव्य वि० सं० १७३२, सर्ग ५।

पूर्ण सप्तदशे शते नरपति सत्षोडशाख्ये ऽब्दके
आकार्योत्तमठक्कुरैर्गिरिवर तद्दुंगराख्ये पुरे ॥
सद्राज्य किल रावल विदधता कृत्वात्मन सेवक
प्रेम्णा स्मै प्रददौ सुयोग्य मखिल सेवा व्यगाद्रावल ॥ ८ ॥

वही, सर्ग ८।

जसवन्तसिंहनाम्न रावलवर्याय पट्सहस्त्रैस्तु
पचशताग्रे रजतमुद्राणा रचित मूल्यमिय ॥२५॥
शुभसारधारसद्म द्विजैर्विहरिजीकहस्तेपु-
डुंगरपुरे नरपति प्रेपितवान् हेमयुक्तवसनानि ॥२६॥

वही, सर्ग २०।

(८) जशवतसिंहरावलमिह डुंगरपुरगतनिज कृतवान् ॥२७॥

उदयपुर के देवारी द्वार के निकटवर्ती त्रिमुखी वावडी की वि० स० १७३४ की प्रशस्ति।

(६) सवत् १७५५ वरप (र्पे) वैशाखसुदि ६ शुक्रे महाराजा श्री सूरतसिंघ (ह) जी पचोली श्री दामोदरदासजी डूंगरपुर फोज पधार्या ।

डूंगरपुर के देव सोमनाथ के मन्दिर का स्तम्भ लेख।

(१०) अद्येह श्रीगिरिपुरे रायराया महाराजाधिराज महारावलश्रीखुमाणसिंघजी विजयराज्ये महाकुंअरजी श्री रामसिंघजी यौवराज्ये ।

डूंगरपुर के खडायता गाँव के लक्ष्मीनारायण के मन्दिर का वि० स० १७५७ का लेख।

(११) प्रामाद्वैवाह्यविधिं विदित्तु
कोटाधिपो भीम नृपोऽप्यगच्छत ।
रथाश्वपत्तिद्विपनद्धसैन्यो
दिल्लीशसमानितबाहुवीर्य ॥ १५ ॥
योऽडुंगराख्यस्य पुरस्य नाथो
दिदृक्षया रावलरामसिंह ।
सोऽप्यागमत्र ससप्रसैन्यो

देशान्तरस्था अपि चान्यभूपाः ॥ १६ ॥

उदयपुर के वैद्यनाथ शिवालय की वि० सं० १७७७ की प्रशस्ति ।

(१२) स्वस्ति श्री संवत १७८६ वर्षे मासोत्तम माघवदि ६ भृगौ अत्र दिने । अथेह श्रीगिरिपुरे महाराजाधिराजमहारावोल श्रीरामसिंहजी विजयराज्ये । कुमार श्रीशिवसिंहजी युवराज्यस्थिते..............।

डूंगरपुर के मगनेश्वर शिवालय की वि०सं०१७८६ की प्रशस्ति ।

(१३) किय वड़गाम मुकाम तव, रांन भीमकी जांन ।
आयसमुख जहां पय लगे, सुत सिवसिंह भवान ॥ ४३ ॥
भयो कूंच गिरपुर हु तें, समुख आय सिवसाह ।
लगी भीम पय संग चले, साथ द्वै सह सिपाह ॥ ४४ ॥

कृष्ण कवि; भीमविलास (र०का०१६ वीं शताब्दी)

आय दिवांन मुकांम, जिमि भोजन सुख कीनिय ।
प्रात कूंच हयं चढिय, सीख रावर कहुं दीनिय ॥
गिरपुर रावर जाय, ससुख चउ कोस सु आइय ।
करि नोछावर नजर, रान गिरपुर पधराइय ॥
मुकांम तांम डूंगरपुर, पधराये दिवांन जव ।
पग मंडप रचि उछरि सुमन, किय नोछावर निजर तव ॥२६६॥
गिरपुर भीम दिवांन, महल बीच तखत विरजिय ।
रावर सिवो प्रसन राग रग उच्छव साजिय ॥
फिर अंतहपुर वीच, रांन रावल पधराये ।
निजर लीन तहां करि जुहार, फिर वाहर आये ॥
सुभमतगोठ रावर करिय, सव उमराव वुलाय तहां ।
जिम्मिय सुगोठ रुचि रुचि सबन, लीन पान कपूर जहां ॥२६७॥
भाव भगत सीवसाह, कीन दीय रांन मांन घन ।
किय रावर तव निजर हस्थि हय बसनरु भूपन ॥
भई विदा हय चढि दिवान, मुकाम सिधारिय ।
साथ आय सिवसिंह, कोस चव आनंद धारिय ॥

दियभीमसिंघ गाव्रर जबह, हयगय भूपन बसनमह ।
मित्रसिंह गये गिरपुर सुग्रह, आय भीम उदियापुरह ॥२६८॥

वही, (भीमविलास ।

कय सरित स्याम सुक्काम ताम ॥
मित्रसिंह सुतन अरिमाल जाम ।
गिरपुर नरेस फतमाल ताम ॥
कछु कीन जोम जिन मत भइ ।
तिन सीस[कान त्रय लक्ख टइ ॥३२६॥

× × ×

पीछे आवत टड लिय, गिरपुर वमनहाल ।
देवलिया किय कर नजर, तब बहुरे भूपाल ॥३२७॥

वही (भीमविलास) ।

उपरोक्त उदाहरणों से प्रकट होगा कि डूंगरपुर का दूसरा नाम 'गिरिपुर' है और ऐसे उदाहरण अब तक भी राजकीय पत्रादि में मिलते हैं, जिनमें डूंगरपुर को गिरिपुर नाम से सम्बोधित किया है। लेख विस्तार भय से यहां अब अधिक कोई उदाहरण न देकर यही कहना पर्याप्त होगा कि मल्पालकरण का निर्माता गोविन्द भट्टमेवाड़ा ज्ञाति का ब्राह्मण था और वह 'गिरिपुर' अर्थात् राजस्थान के 'डूंगरपुर' कस्बे का निवासी था।

पन्द्रहवी शती की मेवाड़ में चित्रित एक विशिष्ट प्रति

(अगरचन्द नाहटा)

भारतीय चित्रकला का इतिहास बहुत प्राचीन है। पाँचवीं शती के जैन कथा ग्रन्थ वसुदेव हिंडी के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने अपने द्वितीय पुत्र बाहुबलि को चित्रकला की भी शिक्षा दी थी। इससे इसकी प्राचीनता बहुत अधिक दूर चली आती है। जैनागमों में अनेक राजप्रासाद आदि के वर्णनों में उनमें किये हुये चित्रों एवं अनेक बनाने वाले विशिष्ट चित्रकारों का उल्लेख मिलता है। इन आगमो का समय ईस्वी पूर्व पाँचवी शताब्दी तक का है। इनमें वर्णित कई चित्रकार तो दैवी-वरदान प्राप्त माने गये हैं, वे किसी भी व्यक्ति का अंगुष्ट मात्र देखकर उसके संपूर्ण शरीर का ऐसा हूबहू चित्र तैयार कर देते थे कि उसके तिल और मस्से तक भी उस चित्र में अंकित हो जाते थे। ऐसे चित्रकारों पर कभी २ राजकोप भी हो जाता और उसके फलस्वरूप उन्हें देश निकाला और हाथ काटने तक का दंड भी भोगना पड़ता था। इन चित्रों की शैली के सम्बन्ध में इतने प्राचीन प्रासाद आदि के उपलब्ध न होने के कारण सठीक कुछ कहा नहीं जा सकता। उपलब्ध प्राचीन भारतीय चित्रों में सबसे प्राचीन चित्र गिरिकन्दराओं में ही सुरक्षित मिले है और अजन्ता आदि की चित्रकला को देखकर सारा विश्व भारतीय चित्रकला की मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है।

गुफाओं के परवर्ती चित्रकला के उदाहरण जैन भण्डारो में सुरक्षित ताड़-पत्रीय प्रतियों एवं उनकी काष्ठ पत्रिकाओं में सुरक्षित है। ये १२ वीं शताब्दी से मिलनी प्रारम्भ होती है। इनके बाद तो प्रत्येक शताब्दी में चित्रित की हुई प्रतियें जैन भण्डारों में प्राप्त है। इनके द्वारा हमे मध्यकालीन चित्रकला के विकास की विशेष जानकारी प्राप्त होती है। उस समय के रंग बहुत ही स्पष्ट होते थे। ६००

वर्ष बीत जाने पर भी उनकी ताजगी इतनी अधिक है कि देखने से ऐसा लगता है कि ये अभी अभी थोड़े वर्ष पहले के ही चित्र हैं। परवर्ती स्याही और रंगों में वह टिकाऊपन कम होता चला गया है। जैसलमेर के भण्डारों में अनेक चित्रित काष्ठ पट्टिकाएँ मैंने देखी हैं जिनमें शैली की विविधता के भी दर्शन होते हैं। इन पर किये हुए चित्र भी विविध भावों के हैं, और विविध प्रकार के हैं। जैसलमेर की चित्र समृद्धि नाम पुस्तक में उसका कुछ आभास मिल जाते हैं। वैसे १२ वीं शताब्दी के आचार्य वादिदेवसूरि के शास्त्रार्थ प्रसंग को चित्रित रूप बतलाने वाली दो विशिष्ट काष्ठ पट्टिकाएँ जैसलमेर से मुनि जिनविजयजी ने लाकर भारतीय विद्याभवन बम्बई में अपने संग्रह के प्रदर्शन में रखी हैं, जो बहुत ही सुन्दर हैं। उनके ब्लॉक कुछ अन्य चित्रों के साथ 'भारतीयविद्या' वर्ष ३ में प्रकाशित हुए हैं। जिनवल्लभ सूरि, जिनदत्त सूरि और तीर्थंकरों के जीवन प्रसंगों से चित्रित काष्ठ पट्टिकाएँ भी उल्लेख योग्य हैं। अभी-अभी अहमदाबाद की प्राची विद्या परिषद् के अधिवेशन प्रसंग पर जो प्रदर्शनी की गई थी, उसमें दो काष्ठ पट्टिकाएँ विद्यादेवियों के चित्रों वाली मेरे देखने में आई, जिनमें एक के चित्र नष्ट हो गये हैं और दूसरी के अभी सुरक्षित हैं। मैं तो उनकी उच्च कला को देख कर मुग्ध होगया। अभी तक जितनी काष्ठ पट्टिकाएँ मेरे अवलोकन में आईं मैं उन सब में इसकी कला उच्च कोटि की मानता हूँ।

उपलब्ध जैनभंडारों के चित्रित उपादानों से स्पष्ट है कि प्राचीन समय में जिस प्रकार गुजरात और राजस्थान की भाषागत एकता थी, उसी प्रकार चित्रशैली भी एक ही थी। १७ वीं शताब्दी में जो चित्रशैली रूढ हुई, उसमें पन्द्रहवीं शताब्दी तक की शैली की सीधी परम्परा है अर्थात् परिवर्तन कम हुआ है। १४ वीं १६ वीं शती के जो जैनेतर ग्रंथ कृष्ण चरित्र आदि मिले हैं, उनकी भी लगभग यही सी शैली है। इसलिये जैन जैनेतर का भी कोई खास भेद नहीं प्रतीत होता। आखिर जैन प्रतियों को चित्रित करने वाले भी तो एक ही चित्रकार थे। १४ वीं शताब्दी में चित्रशैली में कहीं कहीं कुछ नया मोड़ प्रतीत होता है। वस्त्रपट्ट पर चित्र इसी शताब्दी से मिलने प्रारंभ होते हैं। इनमें हमारे संग्रह की तरुणप्रभसूरी का पार्श्वनाथ पट सं० १४०० के आसपास का है जिनमें कई पट्ट तो रंग एवं अंकन आदि की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बन पाये हैं। १५ वीं शताब्दी में मुगलों का सम्मिश्रण हमारी भारतीय शैली में हुआ। फलतः इस समय से चित्रकला का एक नया ही रूप देखने को मिलता

है। सम्राट् अकबर, जहांगीर और शाहजहां इनके समय में हजारों चित्र एवं चित्रित प्रतियाँ तैयार हुई । राजपूतशैली, का स्वतंत्र विकास भी खूब जोरों से हुआ। १८ वीं शती में तो चित्रों की खूब फसलें तैयार हुईं। इस समय अनेक काव्य ग्रंथों और राग-रागिनी-बारह मासे एवं नायक नायिकाओं आदि के भाव चित्र खूब बनाये गये। १६ वीं शती से भी यह क्रम चालू रहा। २० वीं शती में मंदता आई पर उतरार्द्ध में शान्तिनिकेतानादि से 'एक नई चित्र शैली का प्रसार हुआ। राजस्थान के कृपालसिंह भूरसिंह आदि चित्रकार इसी स्कूल के हैं।

उदयपुर के गोवर्धन जोशी, जयपुर के रामगोपाल विजयवर्गीय आदि की अपनी शैली है। पुराने चितेरे अब तक अपने ढंग से काम कर ही रहे हैं। कईयों ने कुछ नवीनता भी अपनाई है, पर प्रोत्साहन के अभाव में राजस्थान के चित्रकार आशानुरूप प्रगति नहीं कर पारहे है।

सम्राट औरंगजेब कट्टर मुसलमान था। उसने चित्रकला को प्रोत्साहन नहीं दिया, इसलिये शाही चित्रकार राज्याश्रय पाने के लिये राजस्थान के राजाओं के आश्रित बने। आज अलवर, जयपुर, उदयपुर, बीकानेर और जोधपुर में जो चित्र समृद्धि पाई जाती है, वह विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। राजस्थान में अलग अलग स्थानों की अपनी अपनी स्वतंत्र कई चित्र शैलियां हैं। उनमें स्थानीय एवं मुगल चित्रकला के कई सम्मिश्रण चिन्ह नजर आते हैं। राजस्थान से गत शताब्दी से हजारो चित्र अन्य प्रान्तो और विदेशों मे चले गये और आज भी वह क्रम जोरों से चालू है। फिर भी यहां की चित्र सामग्री अन्य सभी प्रान्तो की अपेक्षा बहुत अधिक है। बाहर के विद्वानो ने राजपूत चित्र शैली पर मुग्ध होकर अनेको ग्रंथ एवं लेख लिखे हैं। पर राजस्थान में वैसा कोई चित्र मर्मज्ञ अभी तक तैयार नहीं हो पाया। रामगोपाल विजयवर्गीय आदि दो चार व्यक्तियों का कुछ नाम है, पर अभी बाहर के विद्वानो के समकक्ष उनका गहरा अनुभव नहीं प्रतीत होता। राय कृष्णदास जैसा चित्र मर्मज्ञ राजस्थान में आवश्यक है।

गुजरात की ओर से प्राचीन चित्र शैली के विविध उपादानों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न हुआ है। सारा भाई नवाब ने जैन चित्र कल्पद्रुम आदि में भी वैसा प्रयत्न किया है। उनका सचित्र कल्पसूत्र भी उल्लेख योग्य है। जैसलमेर की चित्र समृद्धि भी उन्ही का प्रकाशन है। पर, राजस्थान की ओर से वैसा भी कुछ

प्रयत्न हुआ नजर नहीं आता। जिस प्रकार गुजरात वालों ने प्राचीन राजस्थानी रचनाओं को प्रकाशित कर उन्हे गुजराती भाषा की रचनाओं के रूप में प्रसिद्धी की, उसी प्रकार राजस्थान के पुराने चित्र भी गुजरात से प्रकाशित होने से वे गुजराती चित्रकला के नाम के रूप में प्रसिद्धि पाये। राजस्थान की १० वीं से १७ वीं शती के मध्य की चित्रित प्रतियों का स्वतन्त्र अध्ययन किये जाने का कोई साधन ग्रंथ नहीं है, जिससे परवर्ती चित्रकला की पूर्व परपरा का ठीक से परिचय मिल सके। राजस्थान का प्राचीन गौरव जितना अधिक रहा है, आज उसके सपूतों द्वारा उसकी उपेक्षा भी उतनी ही अधिक नजर आती है। अन्यथा राजस्थान में धनियों की कमी नहीं, वे चाहें तो प्रान्त के प्राचीन गौरव को विश्व विदित कर सकते हैं। यहा के शिल्प-स्थापत्य, मूर्ति-चित्रकला, भाषा और साहित्य पर स्वतन्त्र ग्रंथ प्रकाशित होने की बहुत ही आवश्यकता है। राजस्थानी भाषा की उपेक्षा के कारण प्रान्त की कोई अपनी भाषा नहीं, जिसका परिणाम उसका कर कई भागों में बट जाना होगा।

राजस्थान की चित्रकला की प्राचीन परपरा और विकास के अध्ययन के लिए राजस्थान में चित्रित प्राचीन चित्रों को शीघ्र ही प्रकाश में लाना आवश्यक है। दो वर्ष हुए जोधपुर जाने पर वहा के केसरियानाथजी मन्दिर के खरतरगच्छ भण्डार में नागोर मे लिखित व चित्रित १५ वीं शती की एक प्रति मिली थी, जिसके दो ऐतिहासिक चित्रों का परिचय लेखन प्रशस्ति के साथ कल्पना में प्रकाशनार्थ भेजा गया है। अभी प्राच्यविद्या परिषद के १७ वें अधिवेशन के प्रसग से अहमदाबाद जाना हुआ तो वहा की प्रदर्शनी के लिये मगाई हुई सामग्री में पाटन के तपागच्छ भण्डार से हालहीमें प्राप्त 'सुपासनाह चरिय' की एक सचित्र प्रति मुनि पुण्यविजयजी ने मुझे दिखाई, जो मेवाड के देलवाडा (देवकुल पाटक) में सं०१४८० मे लिखी गई है। इसमें प्रस्तुत चरित्र के विविध भावों के अनेक चित्र दिये हैं, जो १५ वी शती के राजस्थानी चित्रकला के प्रतिनिधि होने से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। कल्पसूत्र कालकाचार्य कथा की जो प्रतियें १७ वीं शताब्दी तक की मिलती हैं, उनमें तो वही रूढिगत अपभ्र श शैली अपनाई जाती रही, पर इस प्रति में उसके विकसित रूप का दर्शन होता है। इसलिये उसका महत्व और भी बढ जाता है। प्रति अभी पास में न होने से चित्रशैली पर तो प्रकाश नहीं डाल रहा हू, केवल उसकी लेखन प्रशस्ति जिसकी मैंने उसी समय नकल करली थी–

प्रकाशित कर रहा हूं। प्रति को मंगवाकर फिर कभी इसके विशिष्ट चित्रों के फोटोओं के साथ चित्र शैली का परिचय प्रकाशित करने का विचार है ही । अभी तो सूचना मात्र ही दी जा रही है— लेखन-प्रशस्ति संवत् १४८० वर्ष शके १३४५ प्रवर्तमाने ज्येष्ठवदी १० शुक्रे वत्त करणे, मेदपाट देशे देवकुलपाटके राजाधिराज राणामोकल विजयराज्ये श्री मद्बृहद् गच्छे मड्डाहड़ीय भट्टारक श्री हरिभद्रसूरि परिवार भूषण पं० भावचंद्रस्य शिष्यलेसेन मुनि हीरानंदेन विलेखिने।

श्लोक—

नंद गनौ युगे चंद्रे ज्येष्ठ मासे सिते नरे।
दशम्याम् लेखया माम सुभाय ग्रंथ पुस्तके ॥

नंदे मुनि वेद चंद्रे वर्षे श्री विक्रमस्य ज्येष्ठ सिते अलेखि, सुपार्श्वचरितं। हीरानंद मुनि द्वाभ्याम सं० १४७६ जे०व०१० शुक्रवासरे।

प्रशस्ति में ऊपर सं०१४८० और नीचे १४७६ का अन्तर है, वह राजस्थान तथा गुजरात के संवत् प्रारंभ या आपाढादि से सं० के प्रारभ होने से होने वाले परिवर्तन का सूचक है। प्रशस्ति का 'देवकुल पाटके' प्रसिद्ध देलवाड़ा है, जिसपर आचार्य विजयेन्द्र सूरिजी की पुस्तक प्रकाशित हुई है। मड्डाहड़ीय शाखा की उत्पत्ति स्थान मड्डाहड़ (मंडार या मंडावर ?) सिरोही राज्य में है। जहां से वडगच्छ की यह शाखा निकली है। [१]

---

१ मड्डाहड, संभवतः अहाड (मेवाड का प्राचीन स्थान भी) हो सकता है, जो देलवाडा से केवल १०-१२ मील दूर है।

सम्पादकीय—

राजस्थानी लोक-गीतों की स्वर-लिपि

पिछले दिनों गर्मी की छुट्टियों में श्री राहुलजी से उनकी मसूरी-स्थित कोठी में मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। राजस्थानी लोक-साहित्य के प्रसिद्ध संग्रहकर्ता श्री गनपति स्वामी भी साथ थे। श्रीस्वामीजी ने पवाडे और अनेक राजस्थानी गीत गाकर सुनाये। श्री राहुलजी जैसे महापण्डित की लोक-साहित्य के प्रति ऐसी गंभीर और जागृत अभिरुचि से हम लोग अत्यन्त प्रभावित हुए। श्री राहुलजी ने सुझाया कि कालेजों से निकलनेवाली तथा अन्य राजस्थान पत्रिकाओं में जहाँ भी जितना अवसर मिले, लोक-साहित्य सम्बन्धी सामग्री भर देनी चाहिए। छात्रों का भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे लोक-साहित्य के संग्रह कार्य में सक्रिय भाग लें।

राजस्थानी लोक-गीतों की स्वर लिपि की चर्चा चलने पर उन्होंने सुझाया कि इन गीतों की अन्तर्राष्ट्रीय स्वर-लिपि भी तैयार की जानी चाहिए। उन्होंने बताया कि एक अच्छे संगीतज्ञ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्वर-लिपि का ज्ञान प्राप्त कर लेना बाएँ हाथ का खेल है।

राजस्थानी लोक-गीतों की स्वर लिपि की ओर सहृदयों का ध्यान अब आकृष्ट होने लगा है। 'प्रेरणा' के अभिनव अंक में 'कुरजां' की स्वर-लिपि प्रकाशित हुई है। बिड़ला बालिका विद्यापीठ पिलानी ने भी इस ओर कदम बढ़ाया है। समय समय पर इस संस्था ने राजस्थानी नृत्य-गीत तथा लोक-गीतों को अपने कार्यक्रम में स्थान दिया है।

राजस्थान कला-निकेतन जयपुर के प्रिंसिपल श्री अमरचंदजी गोस्वामी भी राजस्थानी लोक-गीतों की स्वर-लिपियाँ तैयार करना चाहते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में अद्यावधि प्रकाशित सभी पुस्तकें उन्हें उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। किन्तु मैं समझता हूं, केवल पुस्तकों से ही काम नहीं चलेगा। स्वर-लिपियाँ तैयार करने से पहले राजस्थानी लोक-गीतों के गायक मिलने चाहिए, जो परम्परा-प्राप्त लय में गीतों को भली भाँति गा सकते हों।

—कन्हैयालाल सहल

पत्रिका-परिचय और नियम
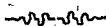
१—यह साहित्य-संस्थान राजस्थान विश्व विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका है।

२—इसमें —

१—प्राचीन साहित्य मुख्यतः प्राचीन राजस्थानी साहित्य,

२—लोक साहित्य,

३—इतिहास,

४—पुरातत्त्व,

५—वनस्पति-शास्त्र,

६—कला, भाषा-शास्त्र आदि विविध विषयों के शोध-पूर्ण निबन्ध रहेंगे। साथ ही शोध-समाचार, साहित्य-समीक्षा आदि का भी समावेश होगा।

३—राजस्थान इसका प्रमुख क्षेत्र रहेगा।

४—निबन्ध में प्रकट किये गये विचारों के लिये उनके लेखक ही उत्तरदायी होंगे।

५—लेखकों को प्रकाशित निबन्धों के २५ रीप्रिंट सम्बन्धित प्रति के अतिरिक्त भेंट किये जायेंगे।

६—समालोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आनी आवश्यक होंगी। दो प्रति आने पर उसके लिये धन्यवाद देने के साथ प्राप्ति स्वीकार की जायगी।

७—पत्रिका का वार्षिक मूल्य ६) रु० तथा एक प्रति का १॥) रु० है।

८—किसी भी अंक से ग्राहक बनाये जा सकेंगे, किन्तु वर्ष से कम के लिये नहीं।

९—पत्रिका प्रति वर्ष—चैत्र, आषाढ़, आश्विन और पौष (मार्च, जून, सितम्बर तथा दिसम्बर) में प्रकाशित हो जाया करेगी।

साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर

प्रकाशित साहित्य:—

१. राजस्थानी भाषा
श्रीयुत् डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, एम० ए०, डी० लिट्०, — मूल्य २।)

२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग—१
श्रीयुत् डॉ० मोतीलाल मेनारिया, एम० ए०, — मूल्य ३)

३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग—२
श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा — मूल्य ४)

४. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग—३
श्रीयुत् उदयसिंह भटनागर, एम०ए० — मूल्य ५।)

५. मेवाड़ की कहावतें भाग—१
श्रीयुत् पं० लक्ष्मीलाल जोशी, एम० ए०, एल-एल०, बी० — मूल्य २)

६. नया चीन
श्रीयुत् हुकमराज मेहता, बी०ए० एल-एल०बी० — मूल्य २।)

७. मालवी कहावतें भाग—१
श्रीयुत् रतनलाल मेहता, बी० ए०, एल-एल० बी० — मूल्य २)

८. पूर्व आधुनिक राजस्थान — मूल्य अजिल्द ६), सजिल्द ७)
श्रीयुत् महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह, एम० ए०, डी० लिट्०, एल-एल० बी०

९. तुलसीदास [काव्य]
श्रीयुत् कन्हैयालाल ओझा, एम०ए०, — मूल्य १।)

१०. आचार्य चाणक्य (नाटक)
श्रीयुत पं० जनार्दनराय नागर, एम० ए०, साहित्यरत्न, विद्यालंकार। — मूल्य २।)

११. शोध—पत्रिका भाग—१ मूल्य ६) रू०, भाग—२, ८) रु०, भाग ३ मूल्य १०) रुपया।

शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें—

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग ४.
श्रीयुत् अगरचंद नाहटा,

२. राजस्थानी वार्ता भाग—१
श्रीयुत् नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०

३. ओझा निबन्ध संग्रह भाग २
डॉ० श्री दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्

मुद्रक— विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर

राजस्थान शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

शोध पत्रिका

[८ अङ्क ३
वर्ष ५४

सम्पादक-मण्डल

महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह, एम० ए०, डी० लिट्०, एल एल० बी०, अगरचंद नाहटा,
प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०, गिरिधारीलाल शर्मा, साहित्यरत्न।

इस अंक में:—

१ किराडू के प्राचीन मंदिर—

ले० श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल एम० ए०

२ महाराणा उदयसिंह की राष्ट्रीय नीति

ले० श्री आर्य रामचन्द्र तिवारी, एम० ए०, एल-एल०बी०

३ डिंगल के सम्बन्ध-सूचक परसर्ग

ले० श्री कन्हैयालाल सहल, एम० ए०, साहित्यरत्न

४ आचार्य पतञ्जलि की दृष्टि में शब्दतत्व

ले० श्री रामशंकर भट्टाचार्य

५ मेवाड़ के आघाट दुर्ग में सं० १३१७ में चित्रित ताड़ पत्रीय जैन प्रति

ले० श्री अगरचन्द नाहटा

६ राजस्थान में इतिहास की प्रचुर सामग्री

ले० श्री नाथूलाल भागीरथ व्यास,

सम्पादकीय—

७ राजस्थानी भाषा पर स्वर्गीय श्री मेघाणी जी का मत

ले० श्री कन्हैयालाल सहल

८ भग्नावशेषों की मरम्मत,

भीली साहित्य का महत्व

ले० श्री गिरिधारीलाल शर्मा

"सरस्वतीं न्वयन्तो हवन्ते"

शोध-पत्रिका

[साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ की
प्रमुख त्रैमासिक पत्रिका]

भाग ६ | उदयपुर, चैत्र वि०सं० २०१० | अङ्क ३

राजस्थान की कला के परिचायक—

किराडू के प्राचीन मन्दिर

(लेखक — श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०
अध्यक्ष, पुरातत्त्व व संग्रहालय विभाग, जोधपुर)

[राजस्थान के प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों, हस्तलिखित ग्रन्थों एवं पुरातन किलों, शिवालयों तथा गढ़ों के अध्ययन करने से भारतीय इतिहास, कला एवं संस्कृति की उत्कृष्टता का परिचय मिल जाता है। राजस्थान के प्राचीन जीर्ण शीर्ण खण्डहरों में भारतीय शिल्प-कला आज भी ज्यों की त्यों अपनी गौरव पूर्ण महिमामय स्मृतियों को लिये हुए विद्यमान है। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही मन्दिरों का उल्लेख है। विद्वान् लेखक ने किराडू के मन्दिरों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है और उन्हें भारतीय मूर्ति एवं स्थापत्य-कला की अनुपम थाती के रूप में देखा है।

प्रस्तुत लेख पठनीय तो है ही, साथ ही विद्वान् लेखक की विद्वता का परिचायक भी है। —सम्पादक]

जोधपुर बाड़मेर कराची रेलवे लाइन पर 'खडीन' (या खाडीन) रेलवे स्टेशन से ३ मील पश्चिम तथा मालानी जिले के प्रमुख नगर बाडमेर से १६ मील उत्तर-पश्चिम स्थित 'हाथमा' या 'हाथमा' नामक अज्ञात ग्राम के समीप ही किराडू के ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं।

आजकल किराडू नाम का कोई बस्ती नहीं है परन्तु प्राचीन काल में इस स्थान को 'किराटकूप' नाम से सम्बोधित किया जाता था। यह नाम तत्कालिक प्राचीन शिलालेखों में मिलता है। विद्वानों का यह विचार है कि प्रतिहार नृप

वाऊक की जोधपुर प्रशस्ति (विक्रम संवत ८९४) का "म्रवणी" नामधेय भूभाग वर्तमान "मालानी" की ओर ही संकेत करता है। एक अंग्रेज कैप्टन श्री लुअर्ड (इण्डियन एण्टीक्वेरी, ३२, पृ० ४८४) का यह विचार है कि किराडू का नाम "खेरालू" था तथा उसकी स्थिति बाडमेर से ३० मील के अन्तर पर थी। यह मत असंगत सिद्ध हो चुका है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (राजपूताने का इतिहास, भाग १, १९२७, पृ० १८३ नोट १) तो किराडू के संवत १२१८ के लेख में स्थान का नाम "किरातकूट" ही मानते हैं।

इतिहास

गत सितम्बर मास में मुझे किराडू के देवालयों का जीर्णोद्धार हेतु निरीक्षण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्राचीन खण्डहरों के पास एक स्थान पर बड़ी २ ईंटों (६।। इन्च २।। इन्च) के टुकड़े देखकर अपार प्रसन्नता हुई। शीघ्र ही एक स्थान पर पत्थरों से दबा हुआ तथा इस प्रकार की बड़ी ईंटों से बना एक चबूतरा सा भी दिखाई दिया। आशा है पुरातत्त्व सम्बन्धी खनन द्वारा किराडू के प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकेगा। इसी प्रकार की ईंटें पाटलीपुत्र, भीनमाल, कोशाम्बी आदि प्राचीन स्थानों पर कुषाण युग के बाद से प्राप्त होने लगती हैं। इसके अतिरिक्त ईसा की १२-१३ वीं शताब्दी तक की इतिहास सम्बन्धी किसी भी प्रकार की सामग्री किराडू मे उपलब्ध नहीं है। किराडू से प्राप्त विक्रम संवत् की १३ वीं शताब्दी के शिलालेखो द्वारा यह विदित होता है कि यह स्थान गुजरात नरेश सोलंकी कुमारपाल के अधीन था तथा उस समय उनके सामन्त महाराजा अल्हणदेव चौहान तथा उनके पुत्र केल्हणदेव यहाँ राज्य करते थे। उक्त लेख में "किराटकूप, लाट हृद तथा शिवा"– इन तीनों स्थानो पर पशुवध निषेध का उल्लेख मिलता है। किराडू के संवत् १२१८ के अन्य लेख मे परमार सोमेश्वर के काल में सिन्धुराज को मारवाड़ का राजा माना गया है [सिन्धुराज महाराज समभून्म-रुमण्डले] परन्तु उस समय सोलंकी नरेशो के सामन्त परमार वंशज ही किराडू पर शासन करते थे। किराटकूप के शासक सोमेश्वर ने "तणुकोट्ट" (वर्तमान तनौत, जयसलमेर) तथा "नवसर" (वर्तमान नोसर, जोधपुर) को अपने राज्य में मिला लिया था। परन्तु कालान्तर मे उसे लौटा दिया। विक्रम संवत् १२३५ के तृतीय लेख द्वारा यह विदित होता है कि किराडू में भी यवनाक्रान्ताओं ने मूर्ति

आदि तोडने की ध्वंसकारी वृत्ति को अपनाया। तुरुकों द्वारा शिव-मूर्ति के खण्डित हो जाने पर कार्तिक सुदि ११ संवत् १२३५ में एक नवीन शिव प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया गया तथा देवालय में दीपादि जलाने के निमित्त दो "विंशोपक" प्रतिदिन के दान की भी व्यवस्था की गई।[१]

ध्वंसावशेष

पर्वतमाला की तलहटी में किराडू के ध्वंसावशेष लगभग एक गोल चक्र दिखाई देते हैं। "हातमा" ग्राम के एक अतीव वृद्ध पुरुष से भेंट करने पर यह विदित हुआ कि लगभग ७० या ८० वर्ष बीते यहाँ २४ मन्दिर विद्यमान थे परन्तु आज कल केवल ५ मन्दिर ही खड़े हुए हैं। शेष सब तो धराशायी हो गये हैं परन्तु उनके अवशेष अभी तक दृष्टिगोचर होते हैं। भाग्य की विडम्बना कि अनुपम कला के प्रतिनिधि ये देवालय निराहतावस्था में पड़े हुए हैं। पुरातत्त्व विभाग, राजस्थान सरकार ने शीघ्र ही इनका पुन जीर्णोद्धार करने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है। इससे पूर्व भी पर्याप्त मात्रा में धन व्यय करके इनका जीर्णोद्धार कराया था।

धार्मिक महत्त्व

अवशिष्ट ५ देवालयों में एक को छोडकर सब शिवालय ही हैं। सोमेश्वर मन्दिर (सर्वप्रमुख देवालय) के सवत् १२१८ के लेख में "त्रैयम्बक" शम्भु तथा गौरी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई है। इसके अतिरिक्त सवत् १२३५ के लेख द्वारा ज्ञात नवप्रतिमा प्रतिष्ठा का उल्लेख किया ही जा चुका है। पश्चिम-दिशोन्मुख सोमेश्वर मन्दिर के सभामण्डप के द्वार के स्तम्भों पर सर्वज्ञात ३ लेख उत्कीर्ण हैं तथा मन्दिर में प्रवेश करते ही दोनों ओर इनको देखे बिना सभामण्डप के अन्दर जाना सभव नहीं है। गर्भगृह के द्वार बिम्ब (Lintles) के मध्य में गरुड (सम्भवत कीचक) की मूर्ति के ऊपर नन्दिवाहन सहित शिव विराजमान हैं। शिवजी के एक ओर विष्णु तथा दूसरी ओर ब्रह्मा उपस्थित हैं। ऊपर के भाग में थर्के के (Frieze) मध्यवर्ती भाग में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सूर्य की एक रूप[२] में स्थानक मूर्ति अतीव महत्त्वपूर्ण है। ऐसा विदित होता है कि उक्त मूर्ति की प्रारम्भ में १० भुजायें थी जिनमें से कुछ तो अवशिष्ट हैं तथा हाथों में ग्रहण किये हुए आयुध भी स्पष्ट हैं अर्थात् दो कमल सूर्य के, गदा एव चक्र विष्णु के, कमण्डल ब्रह्मा के तथा धनुषबाण सम्भवत पिनाकपाणि शिव के परिचायक हैं,

दशभुजा मूर्ति के दोनों ओर महेश, दाहिने ओर पर गणेश तथा बाईं ओर हंसारूढ़ कोई देव पुरुष है।

रामायण तथा कृष्णलीला प्रदर्शन

उक्त सोमेश्वर मन्दिर के प्रवेश द्वार के बाहरी भाग पर तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करती हुई कृष्णलीला सम्बन्धी कुछ घटनायें उत्कीर्ण हैं तथा सकट-भंग, केशीवध, प्रलम्बासुरवध, पूतनावध इत्यादि। मन्दिर के आलम्बन (Basement) पर नीचे से ऊपर की ओर गजथर, अश्वथर तथा नरथर का प्रदर्शन भी कम आकर्षक नहीं है। इसी प्रकार सभामण्डप के बाहरी भाग में (दक्षिण दिशोन्मुख) अमृतमन्थन संबंधी पौराणिक घटनाचक्र का तक्षण किया गया है। इसके अतिरिक्त गर्भगृह के बाह्यभाग पर भी रामायण तथा कृष्णजीवन सम्बन्धी विविध घटनायें प्रदर्शित की गई हैं। कृष्णघटनाओं में गोवर्धनधारण, प्रलम्बासुर वध, कृष्णकरोदा यशोदा, कंस द्वारा प्रेषित विषभरे मिष्टान्न का कृष्णद्वारा भक्षण तथा कृष्णकंस युद्ध में कंस का नीचे पछाड़ा जाना इत्यादि विशेष रूपेण उल्लेखनीय है। प्रजासेवक (साप्ताहिक) जोधपुर के ३०-६-४३ के अंक में इन सब का विस्तृत विवेचन किया गया है। मन्दिर के इसी स्थल पर समीप ही रामायण सम्बन्धी दृश्यो में कुछ विशेषतया विवेचनीय अर्थात् सुग्रीव–बाली युद्ध, अशोकवाटिका के नीचे रावण के बन्दीगृह में सीता तथा हनुमान का पुष्पोद्यान ध्वंस करना, सेतु-निर्माण हेतु वानर जाति के सदस्यो द्वारा पत्थर उठा कर लाना तथा उन सब को एक स्थान पर इकट्ठा करके सेतु निर्माण कार्य सम्पन्न करना इत्यादि। इसके अतिरिक्त मन्दिरों के ऊपरी भाग पर तक्षण का इतना काम हुआ है कि एक इंच भी स्थान बिना खुदाई के नहीं है। वेश-भूषा की दृष्टि से तो यहां की मूर्तियां एक बहुमूल्य भण्डार है।

सोमेश्वर मन्दिर के समीप ही (लगभग ५० गज की दूरी पर ही) पश्चिम की ओर मुख किये एक अन्य शिव देवालय का सभा मण्डपादि बिल्कुल नहीं बचा है। गर्भगृह के द्वार ललाट पर कीचक की मूर्ति बनी हुई है। ऊपर अर्ज के पांच ताको मे मध्यवर्ती ताक से तो शिव की तथा शेष मे देवियो की मूर्तियां विद्यमान है। गर्भगृह के बाह्य भाग के प्रमुख तीन ताकों में स्ववाहन तथा अर्धाङ्गिणी सहित ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव पृथक् पृथक् ताक मे बैठे हुए हैं। प्रधान ताकों के

नीचे रामायण तथा महाभारत सम्बन्धी कुछ दृश्य अंकित हैं। उत्तर की ओर वाले भाग पर सुमित्रापुत्र लक्ष्मण शक्ति के आघात से पीड़ित हो राम के घुटने पर शिर टिकाये पड़े हैं, सामने कुछ वानर शोकमुद्रा में बैठे हुए हैं। लक्ष्मण को पुन होश में लाने के उद्देश से हनुमान सजीवनी बूटी लाने के लिए गये परन्तु आते समय समूचा पर्वत ही उठा लाये। इसके अतिरिक्त दक्षिणवर्ती भाग मे वानरों ने सोमेश्वर मन्दिर के दृश्य की नाई अपने अपने दोनों हाथों मे पत्थर उठा रखे हैं तथा आग समुद्र मे डालते जा रहे हैं। इस प्रकार वानर जाति के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप सेतुबन्ध निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ। इस स्थान के समीप ही थोडीसी जगह मे भीष्मपितामह शर शय्या पर लेटे हुए दिखाये गये हैं। भारतीय मूर्तिकला में दृढप्रतिज्ञ भीष्म का शर शय्या पर लेटे लेटे ५८ दिन तक मृत्यु की प्रतीक्षा का भाव अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। मारवाड़ के कलाकार[४] ने सहृदय से ही गंगापुत्र भीष्म के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। इस मूर्ति में शर-शय्या, भीष्म का मुकुट, अधोवस्त्र आदि का बड़ी बारीकी से तक्षण किया गया है।

विष्णु मन्दिर

तीसरा मन्दिर विष्णु का है। विद्वानों का विचार है कि यही देवालय किराड़ू की प्रारम्भिक कला का प्रतीक है। मन्दिर के सभामण्डप की छत गिर गई है और गर्भगृह की भी। केवल गर्भगृह की बाहरी दीवारें तथा सभामण्डप के आठों स्तम्भ बचे हैं। गर्भगृह के बाहर प्रधान ताक में विष्णु की त्रिमुखी मूर्ति विद्यमान है। डाक्टर भण्डारकर का तो विचार है कि यहां वराह, मनुष्य तथा सिंह के मिलकर रूप सम्मिश्रित किए गए हैं परन्तु मुझे तो ऐसा कोई भी भाव नहीं दिखाई दिया। नीचे गरुड़ वाहन होने के कारण यह मूर्ति विष्णु की तो निःसन्देह ही है। मारवाड़ स्थित मालड़ी में भी षड्भुज विष्णु की त्रिमूर्ति मिली है जिसमें एक मुख वाराह का दूसरा पुरुष का तथा तीसरा सिंह का है। ऐसी मूर्तियां गुजरात के कई स्थानों मे प्राप्त हुई हैं तथा प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में सुरक्षित रखी हैं। किराड़ू की इस मूर्ति के नीचे एक ओर ५ पंक्तियों का एक स्पष्ट लेख भी खुदा हुआ है। उत्तरोन्मुख भाग पर एक वानर चौकोर पत्थर उठाये हुए है। इसी प्रकार की कुछ मिलती जुलती मूर्ति पहाड़पुर (बंगाल)

से भी मिली है। सम्भवतः यह वानर समुद्र के ऊपर सेतुबंध निर्माण हेतु सक्रिय दिखाया गया है।

दक्षिण की ओर वाली प्रधान ताक मे दशमुख विष्णु, पद्मासन मुद्रा मे आसीन हैं। खेद है कि देवता के समस्त हाथ खण्डित हो चुके हैं। गुजरात की मध्यकालीन कला की निर्देशक विष्णु के दस हाथ वाली मूर्तियां पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुई हैं। उपर्युक्त शिव मन्दिरों के अतिरिक्त दो अन्य मन्दिर हैं परन्तु उनमें कोई विशेष उल्लेखनीय नहीं है। कला की दृष्टि से तो वे समकालीन ही है।

"त्रिपाद मूर्ति," एक अद्वितीय कलाकृति

उक्त मन्दिरों के सामने एक पहाड़ी पर (लगभग ५०० फुट की ऊंचाई पर) एक छोटे घेरे मे पत्थरों की आड़ में कुछ मूर्तियों की यदाकदा पूजा होती रहती है। इसमें मध्यवर्ती तथा सबसे बड़ी मूर्ति महिषासुरमर्दिनी की है। इस अष्टभुज अतिरिक्ताङ्ग प्रतिमा के नीचे "संवत् १५१२ वर्षे फाल्गुन वदि १२ सोम दिने का" लेख उत्कीर्ण है। पास ही पीले (सम्भवतः जैसलमेरी पत्थर की) पत्थर की एक अन्य मूर्ति (फुट ५ इंच) के नीचे दो पंक्तियों का एक छोटा सा लेख उत्कीर्ण है अर्थात् —"संवत् १५१६ वर्षे वैशाख सुदि ५ तिथौ ''' त्रिपाद मूर्तिका करापित वा ' '' सुत''''''सर्वशा (ति) हेतवे'''प्रतिष्ठता। श्री श्री"। शिलालेख का त्रिपादमूर्ति शब्द वास्तव में बिल्कुल सत्य है। क्योंकि मूर्ति के तीन पैर हैं, दो टांगे तो सीधी तनी खड़ी है तथा तीसरी टांग बांई ओर जंघा के ऊपर रखी हुई है। अष्टभुज मूर्ति के पीछे कुत्ते पर झपटते हुए एक सिंह का भी प्रदर्शन किया गया है। मूर्ति के सिर के ऊपर तीन फणां वाले सर्प ने वितान सा तान लिया है। देव के कण्ठ में वक्षस्थल के ऊपर तक यह सर्प लटका हुआ है। इसके अतिरिक्त देवता के दांत कुछ खुले हुए हैं तथा दायें हाथों में तलवार, डमरू, कटार, आदि स्पष्ट हैं। दाहिने हाथ में कटार तथा वाम हस्त मे नीचे रखा हुआ प्याला रक्त-पिपासु देव का सूचक प्रतीत होता है। गले में टांगों तक एक लटकती मुण्डमाला भी अतीवाकर्षक है। कला की दृष्टि से तीन टांगोवाली यह त्रिपाद मूर्ति बहुत महत्वपूर्ण है। नीचे रक्खे हुए पैरो में खड़ाऊएँ हैं। कुछ विद्वान इसे अतिरिक्ताङ्ग भैरव की मूर्ति मानते हैं।[१]

कला-कौशल्य एवं रचना शैली

स्थापत्य कला के क्षेत्र में सोलंकी युग की गुजरात कला ने किराड़ू को बहुत प्रभावित किया है। साथ ही शिखरों (Shires) के लघु उरुशृंग (Turrets) तथा स्तम्भों में घटपल्लव (Vase and Foliage) के प्रचुर प्रयोग द्वारा गुप्त कालीन कला का भी परिचय एवं प्रभाव उपलब्ध होता है। सुप्रसिद्ध सोमेश्वर मन्दिर (पश्चिम दिशोन्मुख) का सभामण्डप के आठ स्तम्भ। केवल इनकी छतें ही गिर गई हैं। यह अनुमान किया जाता है कि निःसन्देह सभा मण्डप के मध्यवर्ति भाग पर गुम्बजाकार (Domical) छत विद्यमान रही होगी। इसे अष्टभुजाकार बनाते हुए आठ विशाल स्तम्भों ने धारण किया हुआ था। इन स्तम्भों पर ब्राह्मणधर्मान्तर्गत अनेक देवीगण भिन्न भिन्न मुद्रा में उत्कीर्ण किए गए हैं। इन स्तम्भों के ऊपरी भाग में मन्दल (Bracket) पर मकर मुख के अन्दर जाते हुए तथा हाथ में कटार लिए हुए पुरुष तथा हंस का प्रदर्शन अतीव आकर्षक है। यही स्थिति प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर के इसी प्रकार के स्तम्भों द्वारा प्रदर्शित की गई है। सौभाग्य से वैष्णव मन्दिर के इन स्तम्भों पर (दो स्थानों पर ही) तोरण भी बच गए हैं इन तोरणों पर खुदाई का काम बहुत अच्छा हुआ है, कहीं कहीं तो मकर दैत्य के मुख से निकलते हुए पुरुष भी दिखाये गये हैं। इसी प्रकार का दृश्य प्राचीन फलवर्द्धिका (वर्तमान फलौदी, मेडतारोड़ से एक मील) के ब्राह्मणी मन्दिर के बाहर स्थित तोरण स्तम्भों द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है। उक्त विष्णु मन्दिर (किराड़ू) के सभामण्डप के स्तम्भों पर स्त्रियों की वेशभूषा, आदि किराड़ू की अनुपम कला के रूप में उपस्थित हैं अर्थात् एक स्त्री गोद में बच्चा लिए है, दूसरी कमर मोड़ कर नृत्यमुद्रा में खड़ी है, तीसरी स्त्री के हाथ में भोजपत्र समूह है तथा ऊपर के पत्र पर एक छोटा सा लेख भी है जो अस्पष्ट है, एक स्त्री ने बहुविध प्रकारेण वस्त्र धारण किया हुआ है, एक स्त्री वक्षस्थल पर हाथ रखे हुए है। दूसरी स्तन स्पर्श कर रही है। इन स्तम्भों पर से गिरी हुई कुछ मूर्तियों के खण्डित भाग जोधपुर संग्रहालय में एक पृथक स्थान पर रक्खे हुए हैं। मारवाड़ की तत्कालीन वेशभूषा के विषय में इनका विशेष अध्ययन अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

मन्दिरों का अधिष्ठान (Basement) तथा स्तम्भशिरस के मध्यवर्ती निचले भागों (Lower halves of shafts) की अपेक्षा ऊपरले भाग अधिक अलंकृत

है। वहां खुदाई का काम कबहुसाधा में हुआ है। मन्दिरों के बाहरी भागों पर (मन्दिर अधिष्ठान के बाहर) शृंग सहित शिर, हाथी, घोड़ा, तथा आपस में लड़ते हुए पुरुषों का क्षितिजाकार (Horizontal) में इसी प्रकार प्रदर्शन भारतीय मूर्तिकला में अन्यत्र भी उपलब्ध है तथा कोटा स्थित रामगढ़[८] मन्दिर। मैसूर में तो उक्त प्रदर्शन में हंस तथा मकर पंक्तियों की वृद्धि कर देवभवन को और भी सजा दिया गया है।

किराडू के उपर्युक्त देवालयों द्वारा रामायण, महाभारत, भागवत, पुराणादि के विविधानक दृश्यों के अतिरिक्त शृंगार एवं प्रेम रस सम्बन्धी कतिपय दृश्य भी उपलब्ध हैं। इनके साथ २ परस्पर युद्ध करते हुए अनेकों दृश्यों द्वारा तत्कालीन युद्धास्त्र विद्या-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। खेद है कि मुसलमाना क्रान्ताओ ने अपनी कुचेष्टाओं के परिणाम स्वरूप बहुत सी भव्य मूर्तियों को तोड़-फोड़ कर कलाकौशल का सर्वनाश एवं तिरस्कार करने का प्रयत्न किया था। लगभग एक हजार वर्ष की धूप तथा वर्षा जल के आघातों को सतत सहते हुए भी किराडू के ये ध्वंसावशेष भारतीय मूर्ति एवं स्थापत्य कला की अनुपम थाती के रूप में निर्जन स्थान में पड़े २ कलाविज्ञों तथा "सत्यं शिवं सुन्दरं" के उपासकों को आकर्षित करने में सर्वदा समर्थ रहेंगे।[९]

फुट नोट:—

१. ...मूर्तिरासीन् मा तुरुकै (एकै) भंग्ना ...इत्यादि। ...देवाय ...दिनं दत्तमिदं विंशोपक द्वयं तथा दीपार्थ च दत्तं तैल। विंशोपक के लिये देखिये मेरा लेख, शोध-पत्रिका, दिसम्बर, १९५२, पृ० ५ तथा आगे।

२. देखिये प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कयोलोजिकल सर्वे वैस्टर्न सर्कल, १९०७, पृ० ४१। आश्चर्य की बात है कि श्री ओझा जी [जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४५] यहां केवल ब्रह्मा, विष्णु तथा सूर्य का ही सम्मिश्रण मानते है। किराडू की इस प्रकार की मूर्तियो से साम्य रखने वाली कतिपय मूर्तियाँ गुजरात तथा मारवाड़ के अन्य स्थानों पर भी उपलब्ध हुई है।

३. इन घटनाओ का सर्वप्रथम उल्लेख करने का श्रेय लेखक को ही है। देखिये "प्रजासेवक" जोधपुर (सितम्बर ३०, १९५३; अक्टूबर १४, १९५३) मे प्रकाशित मेरे लेख जिनमे कृष्णलीला का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त

लोकवाणी, जयपुर के वर्ष १९५३ की दीपावली के विशेषाङ्क, पृ० ३३ पर रामायण सम्बन्धी दृश्यों का विवेचन किया गया है तथा एक लेख "इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली", कलकत्ता में प्रकाशनान्तर्गत है।

४ इस कृति के लिये मारवाड़ के कलाकार ने भारतीय मूर्तिकला में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

५ प्रोग्रेस रिपोर्ट ,वैस्टर्न सर्कल, उपयुक्त, पृ० ४२

६ इस सुझाव के लिये मैं कलकत्ता विश्व विद्यालय के डॉक्टर जितेन्द्रनाथ बेनर्जी का आभारी हूँ। भैरव की एक अतिरिक्ताङ्ग मूर्ति एलोरा में मिली है। इसके विवरण हेतु देखिये श्री गोपीनाथ राओ कृत एलीमैण्ट्स ऑफ हिन्दु आइकौनोग्राफी, भाग २, खण्ड १, पृ० १८१-२। वैसी भृङ्गी ऋषि की भी ३ टांगों का उल्लेख मिलता है (देखिये वही, पृ० ३२२-३, श्री एच० के० शास्त्री कृत साउथ इण्डियन इमेजेज ऑफ गौड्ज़ एण्ड गौडैसेज़, १९१६, मद्रास, पृ० १६५, प्लेट न० १०५)। अग्नि देव की भी ३ टांगें प्रदर्शित की जाती हैं (देखिये डॉ० सकालिया कृत आर्कियौलौजी ऑफ गुजरात, पृ० ४४ तथा नोट ६)। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी काशी० वि० वि० से दिनाङ्क १८ ११ ५३ के पत्र में यह सूचित किया है कि मथुरा सग्रहालय में १२८६ सख्यक मूर्ति त्रिपाद है, वह भृङ्गी ऋषि की है। और भी I Dubrieul की Iconografhy of Southern India प्लेट १०, उ० २८ पर दक्षिण भारत की भृङ्ग ऋषि की मूर्ति का वर्णन है। विष्णुधर्मोत्तर (३। ७३। ४०) में ज्वर को त्रिपाद कहा गया है अर्थात "ज्वर त्रिपाद कर्तव्य"। उक्त सूचना के लिये मैं डॉ० अग्रवाल का अतीवाभारी हूँ।

७ इस प्रकार का प्रदर्शन मारवाड़ के कई प्राचीन देवालयों में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इसी भाव की झांकी प्राचीन भारतीय स्थापत्यकला के प्रभाव से निर्मित देवालयों में भी विद्यमान है।

८ देखिये श्री स्टैला क्रेमरिश कृत "हिन्दु टैम्पल," कलकत्ता, भाग १, पृ० १४६ a, फुटनोट ४६, पृ० २११ २। श्री पर्सी ब्राउन ने "इण्डियन आर्कीटैक्चर" १९५३ पृ० १४४ पर किराड़ू के देवालयों के वास्तुशिल्प पर प्रकाश डाला है।

९ किराड़ू का उपर्युक्त त्रिपादमूर्ति तो अतीव महत्वपूर्ण है। इस मूर्तिकला को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का प्रयत्न लेखक ने ही किया है।

महाराणा उदयसिंह की राष्ट्रीय नीति

(प्रो० श्री आर्य रामचन्द्र जी० तिवारी M. A., LL. B., अध्यक्ष, इतिहास
एवं राजनीति विभाग, प्रताप कॉलिज, अमलनेर, EK.)

[शोध-पत्रिका 'के गतांक में इस लेख के विद्वान लेखक ने' मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह की युद्ध नीति तथा रणकौशल'' शीर्षक लेख में श्री उदयसिंह के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित किया था। उसके बाद दूसरा यह लेख श्री उदयसिंह की राष्ट्रीय नीति-रीति के सम्बन्ध में है! विद्वान लेखक ने महाराणा कुम्भा, सांगा और उदयसिंह के समय घटी घटनाओं का विश्लेषण करते हुए इतिहास के विद्वानों, और विद्यार्थियों का ध्यान कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर आकर्षित करते हुए अपना नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है! राजस्थान और भारतीय इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक मेवाड़ के कुछ नरेशों की रीति-नीति को अच्छी तरह से समझ न लिया जाय।

लेख, गंभीर अध्ययन और चिन्तन का परिणाम है; इसलिये पठनीय और उपयोगी है

—सम्पादक]

मेवाड़ का राजवंश जनमत द्वारा 'हिन्दुआं सूरज' की उपाधि से विभूषित हैं। लेकिन इनको हिन्दुओं का ही नेता कहना मेवाड़ के राजाओं की राष्ट्रीय नीति का गहरा अपमान है। ये तो हमेशा भारतीय राष्ट्रीयता के भक्त रहे हैं। इनके ऊपर धर्मान्धता की छाप कभी चढ़ नहीं सकी। इसी कारण हिन्दु-मुसलमान भ्रातृभाव का जैसा दृश्य मेवाड़ में दृष्टिगोचर होता है, उसकी मिसाल भारत के किसी अन्य प्रान्त में नहीं मिल सकती।

मेवाड़ के सिसोदिया, मुसलमानों की साम्राज्यवादी लिप्सा के प्रमुख शिकार रहे। इसी कारण मेवाड़ की राजनीति का प्रमुख अंग हिन्दु राष्ट्र धर्म और राष्ट्री-

यता की रक्षा करता रहा। लेकिन सकीर्णता का तो यहाँ नाम मात्र भी नहीं था। सिर्फ शुद्ध देश-भक्ति की गगा ही यहाँ निरन्तर बहती रही। इसी कारण सिसोदियाओं ने मुसलमानों का मुकाबला किया। लेकिन शीघ्र एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।

कुम्भा इस क्रान्ति का अग्रदूत था। टाड (1914 Edi, P 231), फरिश्ता (Brigg's Edi, Vol I Px 537-9) और अल बदौनी (Vol I, Px 298 9) के साथ २ पढने से पता चलता है कि मालवा के सुलतान मुहम्मद खिलजी को दिल्ली के कुछ सरदारों ने दिल्ली पर आक्रमण के लिये निमन्त्रण दिया। राणा कुम्भा की सहायता प्राप्त कर खिलजी सुल्तान दिल्ली पर चढ दौडा। लेकिन हिन्दुओं का सहयोग देखकर दिल्ली के सरदारों ने खिलजी का सुल्तान ने साथ नहीं दिया। इसलिये सुल्तान मुहम्मद खिलजी, बहलोल लोदी द्वारा परास्त होकर घर भागा।

यद्यपि कुम्भा खिलजी उद्योग असफल रहा। लेकिन कुम्भा की नीति ने मेवाड़ की राजनीति में एक नये अग का समावेश कर दिया। मेवाड़ अब पृथ्वीराज चौहान द्वारा खोई हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त कर पुन हिन्दु साम्राज्य स्थापित करना चाहता था और इसके लिये वह मुसलमानों से मैत्री भी स्थापित कर उनको अपने ध्येय के लिये यन्त्र बनाने के लिये प्रयत्नशील था। इसके लिये कुम्भा मेवाड का अकबर कहा जा सकता है। वह अकबर के समान राष्ट्रीय नीति की ओट में स्वार्थ पोषण कर रहा था।

सांगा ने कुम्भा की असफलता से एक शिक्षा ली। उसने यह भली भांति समझ लिया कि हिन्दू मुसलमान मैत्री हि मुल्की आवश्यकता से ही सुदृढ बनाई जा सकती है। कुम्भा की असफलता का खास कारण यह था कि मुसलमान इस मैत्री के प्रति उदासीन थे।

इसलिये सांगा ने अफगान हितों के सरक्षण करने का भार लिया। लेकिन सांगा हिन्दू हितों का सरक्षक भी था। इसलिये सांगा का कार्य बहुत ही नाजुक था। उसको दोनों तत्वों के बीच सन्तुलन करना पड रहा था। और वह यह कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सका। [illegible]

सांगा ने अपना पार्ट अच्छी तरह से निभाया। इसने बहादुरशाह को गुजरात के सिंहासन पर बैठने में सहायता दी और साथ ही साथ मेदनीराय को भी मेवाड़ में आश्रय दिया। फिर भी यह स्पष्ट है कि सांगा को मुसलमानों से धार्मिक कारणों-वश और हिन्दुओं से राजनैतिक कारणों के कारण लड़ना पड़ता था। इस तरह वह मेवाड़ एवं स्वयं के कुछ अस्पष्ट स्वार्थों के लिये लड़ रहा था। इसमें उच्च आदर्श का कोई कणमात्र भी नहीं था। साथ ही साथ इस्लाम के साथ इसका विरोध भी स्पष्ट था। म. ओझा का कथन है कि सांगा ने करीब २०० नगरों में मस्जिदें गिरादीं और कितने ही मुसलमानों की स्वाधीनता का अपहरण किया (उदयपुर राज्य का इतिहास, जि० १, पृ० ३८६)।

लेकिन सांगा मूर्ख नहीं था। सिर्फ उसका ध्येय सीमित था। वह यह बात अच्छी तरह जानता था कि दिल्ली के सिंहासन को हस्तगत करने का समय अभी नहीं आया था। इसलिये उसने दो बार इब्राहिम लोदी को पराजित करने के बाद भी बहुत धैर्य तथा सन्तोष से काम लिया। उसने एक दम दिल्ली के सिंहासन के लिये अपना हाथ नहीं बढ़ाया। क्योंकि वह जानता था दिल्ली भारत में मुसलमान सत्ता का राजनैतिक मक्का था जिसको बिगैर सब हिन्दुओं को एक सूत्र मे बांधे बिना हस्तगत करना राजनैतिक अदूरदर्शिता मात्र थी। मराहठ लोगों ने इस कठोर सत्य पर लक्ष्य नहीं दिया और इसी कारण उनको पानीपत के के युद्ध मे घोर पराजय का सामना करना पडा।

सांगा ने दिल्ली के असन्तुष्ट सरदारो के साथ राजनैतिक गठबन्धन शुरू किया। इसी बीच बाबर ने भारत पर हमला कर दिया। इब्राहीम लोदी की हार और मृत्यु के बाद सिवाय बिहार के सारा मुसलमान भारत मुगलों के अधिकार में चला गया। अपने शत्रु नं० १ बाबर से लड़ने के लिये अफगानो को सांगा की शरण लेनी पड़ी। सांगा ने दिखाने के रुप में सिकन्दर लोदी के पुत्र महम्मूद लोदी को दिल्ली के तख्त पर बिठाने का सकल्प किया। बहुत से अफगान सरदार चित्तौड़ आ गये। बाबर ने इस मैत्री की महत्ता को समझा और इस मित्रता के सूत्र को तोड़ने के भीषण प्रयत्न किया। इसी कारण उसने झूठ मूठ इस बात का ऐलान किया कि सांगा ने उसको भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया था। इस ऐलान का प्रत्यक्ष मे तो कुछ असर नहीं हुआ क्योंकि राजपूत-अफगान

मैत्री बनी रही। इसी कारण बाबर ने सांगा से लड़ने में शीघ्रता की। इस युद्ध में हिन्दु और उनके साथी, अफगान पराजित हुये।

सांगा की पराजय का कारण यह था कि उसने अपनी सेना को नवीनतम साधनों एवं सामरिक नीतियों से सुसज्जित, एवं शिक्षित नहीं किया था। खानवा का युद्ध गलत स्थान पर, गलत समय में और असामरिक रीति से लड़ा गया था। इस युद्ध में प्राचीनता का अर्वाचीन से युद्ध हुआ। इसमें एक विशाल एवं असंग्रहीत दल राजनैतिक लुटेरों के दल से टकराया और पराजित हुआ। इसमें सांगा की पराजय निश्चित थी, लेकिन खानवा के युद्ध में बाबर की विजय नहीं हुई। मुगलों को बहुत हानि उठाना पड़ी। मेवाड़ के हृदय में आक्रमण करने के लिये न तो अब उसके पास शक्ति थी और न उत्साह था। **वास्तव में कानवा के युद्ध का परिणाम सांगा की हार थी बाबर की जीत नहीं।**

इस पराजय का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था। राजपूतों की मन स्थिति का वर्णन करते हुवे H Goestz कहता है कि

"From Firozshah to Akbar the Muslim history of India is a story of provincial Sultanates defying the ruler of Delhi and warring with each other and of district chief, Hindus as well as Muslims defying the authority, also the smaller Sultanates From their retreats in mountain-fortresses and from obscurity of tolerated despised Jamindars and robber chieftains the Hindu Kshatriyas reconquered and consolidated their kingdoms, often defeated, but never broken"

• Presentation Vol to Vogel, pp 158-9

इस प्रकार हिन्दु लोग सिर्फ सिमित क्षेत्र में ही कार्य कर रहे थे। इसलिये किसी भी बड़ी ईकाई में अपने छोटे २ राज्यों का विलीनीकरण इनको स्वीकार नहीं था। Dr A C Banerjee कहते हैं कि

" Sanga was trying to impose on the Rajputs a new type of unity which went against the traditional politico-social organization of the race" ("Rajput Studies, P 94)

(सांगा राजपूतों पर एक नई एकता लादना चाहता था जो कि उनके जाति परम्परागत स्वभाव एवं राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध थीं ।)

लेकिन राजपूतों को एक सूत्र में पिरोये बिना सांगा मुसलमानों से दिल्ली का सिंहासन छीन नहीं सकता था और यह नवीन प्रणाली राजपूतों को स्वीकार नहीं थी । इस तरह जिन साधनों से सांगा को सफलता मिल सकती थी, वे राजपूत स्वभाव एवं परम्परा तथा व्यवस्था को स्वीकृत नहीं थे । यहाँ हम साधन एवं ध्येय में वह अन्तर विरोध देखते हैं, जिसके कारण सांगा की पराजय हुई ।

सांगा की पराजय का एक और भी कारण था । वह था राजपूत-अफगान मित्रों के बीच में विश्वास का अभाव । यह मैत्री एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पुत्री थी जिसमें सहज प्रेम का अंश मात्र भी नहीं था । इसलिये यह धर्ममत भेद-जन्य आरोपों एवं झगड़ों का सफल मुकाबला नहीं कर सकती थी । शीघ्र ही दोनों दल अपनी २ उत्सुकता को धिक्कारने लगे । विश्वासघात एवं विश्वासहीनता के आरोप खानवा की पराजय के बाद शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगे । अहमद यादगार ने सांगा पर बाबर से मैत्री और अफगानों से विश्वासघात का आरोप लगाया (इलियट, जि० ५, पृ० ३६) । अहमद यादगार बाबर और सांगा के बीच मिरजा हिंडल द्वारा नियोजित मैत्री का उल्लेख करता है, जिसके अनुसार सांगा ने हसनखां मेवाती को मरवाने के लिये षड़यन्त्र रचा । यह वृतान्त बाबर-सांगा युद्ध स्थल को प्रयाण के पूर्व की सन्धि वार्तो का विकृत वर्णन है । डॉ० A. C. Banerjee सही कहते हैं कि—

"Nor could the Hindu-Pat' have expected whole-hearted loyalty and assistance from his new-found Afgan allies. Everything separated them-religion, tradition, ultimate object (for while Sanga wanted to establish Hindu ascendency in Northern India, the Afgan aimed at placing a Lodi prince on the throne of Delhi); they were united only by a common emergency-the necessity of driving Badar out of india. Such an unnatural combination could hardly be effective against a group of men whose future in an unknown country

depended on cohesion and desperate courage ”

(“Rajput Studies”, pp 94-95

डॉ० राय चौधरी इस मत को अस्वीकार करते दीखते हैं। इनका कथन है कि

“The political disturbences following the chogtai invasion and the consequent rise of petty chieftainships brought the Hindus into prominence But the Hindus did not make any serious attempt to found a Hindu empire is explained by the fact, among others, that the Hindus did not look upon themselves as a separate political entity and were willing to make a common cause with the Muhammedan breathern ”

(“Din i Ilahi”, P 50,

लेकिन डॉ० रायचौधरी का मत स्वीकार करने योग्य नहीं है। Erskine का कथन है कि

“The empire of Delhi was in confusion, it had become the prey of the strongest, and the former success and mighty power of the Rana might seem to justify at once his hopes of seating himself on the vacant throne of Lodis, and his more reasonable and glorious ambition of expelling both the Afgan and Turki invaders from India,-and restoring her own Hindu race of kings, and her native insitutions In the meanwhile, however, he acknowledged Sultan Mahmud Lodi, the son of Sikandar Lodi who had been set up by the western Afgans as the legal successor of Sultan Ibrahim”

(Babar and Humayun”, P 462)

And again

‘ The Rajput chief (Rana Sanga, R C) had exactly the same views with Babar to make most of the ruins of the Afgan monarchy ” (ibid, P 448)

इस तरह सांगा उत्तर भारत पर आधिपत्य जमाने के लिये प्रयत्नशील था। इसके लिये वह अफगानों से मित्रता कर मुग़लों को निकालना चाहता था। इसके बाद वह अफगानों को दबाना चाहता था। इसलिये राजपूत और अफगानों में हार्दिक सरोकार असम्भव था। इसी कारण से उनके बीच अविश्वास के बीज उत्पन्न हुवे। इनको बाबर के कथन ने कि उसको सांगा ने निमन्त्रण दिया था, परिप्लवित किया। विभाजित संघ युद्ध जीत नहीं सकता है। इसलिये भी सांगा पराजित हुवा। सॉगा ने अस्पष्ट रूप से राष्ट्रीय संघ एवं सेना का स्वर्ण स्वप्न देखा। लेकिन इसको कार्यानान्वित करने की शक्ति उसमें नहीं थी। इस कार्य के लिये विधि विधान ने उसके पुत्ररत्न उदयसिंह को नियुक्त किया था।

सांगा के निकट उत्तराधिकारी इतने कमजोर थे कि वे कोई बड़ी बात नियोजित नहीं कर सकते थे। वे इतने कम उम्र थे कि वे किसी उच्च बात का स्वप्न भी नहीं देख सकते थे। और वे इतने आपद्ग्रस्त थे कि वे बहादुर नहीं बन सकते थे। दुर्भाग्य ने इनको गुजरात के सुलतान बहादुरशाह का समकालीन बनाया। इसके कारण चित्तौड़ का दूसरा साका हुआ। इस समय उदयसिंह की उम्र११से१२वर्ष की थी। राणा विक्रमादित्य के प्रार्थना करने पर भी बादशाह हुमायूं ने मेवाड़ की सहायता नहीं की। क्योंकि उसकी दृष्टि मे और बहादुरशाह की दृष्टि में गुजरात और मेवाड़ का युद्ध हिन्दु-मुसलमान संघर्ष था। चित्तौड़ पतन के बाद बहादुर-शाह मन्दसौर के युद्ध मे हुमायूं द्वारा पराजित हुवा। बहादुरशाह प्राण बचाने के लिये इधर उधर भागता फिरा। इस समय मौका पाकर सीसोदियाओं ने चित्तौड़गढ़ पर पुनः अधिकार कर लिया। राणा विक्रमादित्य को बणवीर ने मार डाला। सन् १५३७ मे बणवीर को निकालकर उदयसिंह ने चित्तौड़ पर कब्जा किया। सन् १५४३-४४ मे शेरशाह चित्तौड़ आया। उदयसिंह ने जन-धन-रक्षार्थ किला शेरशाह को बिना युद्ध किये समर्पण कर दिया। शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियो में सिंहासन के लिये झगड़े हुवे। मौका पाकर सीसोदियाओ ने पुनः चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया।

चित्तौड़ का समर्पण उदयसिंह के साहस और दूरदर्शिता का उज्जवल प्रमाण है। यह एक नितान्त एवं हृदयहीन आवश्यकता थी। खानवा और चित्तौड़ के दूसरे साके की क्षतिपूर्ति के लिये यह जरूरी था।

उदयसिंह के सामने इतिहास की दो शिक्षाएँ थीं —(१) खानवा की पराजय राजपूत चरित्र एवं सगठन में लचिलेपन की कमी के कारण हुई जिसके कारण हरएक राजपूत यौद्धा मरने को तय्यार था लेकिन समयानुसार नीति में परिवर्तन करने को नहीं, (२) चित्तौड का दूसरा साका सिसोदियाओं की मित्र हीनता के कारण हुआ। अगर कोई मित्र राष्ट्र चित्तौड की सहायता के लिये तय्यार हो जाता तो युद्ध का परिणाम शायद दूसरा होता।

इसलिये उदयसिंह के लिये दो आवश्यक कर्तव्य थे। (१) राजपूत चरित्र की लचिलेपन की कमी को दूर करना, (२) मित्रों की सख्या बढ़ाना। पहिले दुर्गुण को दूर करने के लिये उसने छापा मार युद्ध प्रणाली (Guerilla warfare) का प्रयोग किया। इससे एक लाभ और भी हुआ। मेवाड की मित्र हीनता का अभाव बहुत कुछ अशों तक अब हानिकारक नहीं रहा। क्योंकि अब मेवाड की ही सैना दो भागों में विभक्त होकर एक दुर्ग के बाहर रहेगी और एक दुर्ग के अन्दर रहेगी। इस तरह बाहर की सेना अन्दर की सैना पर शत्रु दल का दबाव कम करने के लिये प्रयत्न कर भिन्न सैना का काम करेगी। इस प्रकार की युद्ध शैली के लिये नई प्रकार की युद्ध प्रणाली एव रण नीति की आवश्यता थी जिसको उदयसिंह ने सफलतापूर्वक मेवाड में प्रचलित किया (देखिये मेरा लेख "महाराणा उदयसिंह की युद्ध नीति एव रण चातुर्य", शोध पत्रिका,)।

मेवाड के अकेलपन को दूर करने में उदयसिंह ने वास्तविक राजनैतिक प्रतिभा का परिचय दिया। उसका पहला काम सागा के बाद स्वतन्त्र हुए बून्दी और सीरोही राज्यों पर पुन मेवाड का प्रभुत्व स्थापित करना था। झालावाड के राजा ने परोक्ष रूप स राणा की आधीनता स्वीकार की। उसकी दूसरी लडकी से मालदेव शादी करना चाहता था वह स्वय इसके लिये रजामन्द नहीं था। क्योंकि मालदेव के साथ उसकी बडी लडकी स्वरूपदे की शादी हुई थी। उदयसिंह ने स्वरूपदे की छोटी बहिन से शादी कर मेवाड का गौरव बढाया। तीसरा, मुगल राज्य के अन्तर्गत असन्तुष्ट लोगों से सम्बन्ध स्थापित कर उनको अकबर के विरूद्ध भड़काया और उनको अपनी ओर खींचा। मेड़ता पति जयमल को मेवाड़ में शरण दे उदयसिंह ने अकबर का भारी अपमान किया जोकि बाद में अकबर मेवाड़ युद्ध एक महान कारण बना ("वंशावली" H Mss No 867 Saraswati

Bhandar, Udaipur, (Raj.) । चौथा, उसने मुगल राज्य से भागे हुए सरदारों को अभय दिया । वाजा बहादुर ऐसे बहुत से शरणार्थियों में से एक था । पांचवां, उसने सुरजन हाड़ा द्वारा रणथम्भोर के अफगान किलेदार को रिश्वत दे, किला और उसके आस पास का इलाका हस्तगत किया । और छठा, उसने अपने सैनिकों को मुगल राज्य पर छुटपुट हमले करने को उत्साहित किया ।

"Radjee (Rajaji, R. C., Rana the most potent and noble prince of India, whose progenitor was Porus of the Old race of the Hindus, at this time lost his strong Castle of Chytor, upon this occasion. Having instructed that important Garrison with Zimet Padshaw (Jaimal R. C.), a captain of Ekdar's army formerly, but fled to the Radjee upon discontent; Zimet makes many times inroads into Gujrat to let Ekbar know how little he valued his force in those quaters."

"Some Years of Travel into Diverse Parts of Africa and Asia. Edited by Herbert Bart (Lon. 1677), P. 62-5

इस तरह उदयसिंह ने मुगल कोर्ट से भागे हुवे लोगों को सिर्फ शरण ही नहीं दी बल्कि उनकी शत्रुता को स्वस्थ साधानों द्वारा मेवाड़ की सामरिक स्थिति को दृढ़ बनाने में लगा दिया । बिहार के कुछ मुसलमान भी इस समय मेवाड़ में आ गये । ये बहुत अच्छे बन्दूकची एवं गोलन्दाज थे । ये सब मेवाड़ की सैना में भरती कर लिये गये । इस प्रकार मेवाड़ मुगल लोगों के विरुद्ध कारवाई का एक महत्त्व पूर्ण केन्द्र हो गया । (Abul Fazul) कहता है कि:—

"This audacious and immoderate one in whom the turbulence of his ancestors was added to his own haughtiness, was proud of his steep mountains and strong castles and turned away the head of obeidience from the sublime court. His brain was heated by his consciousness of his possessing aboundant land and wealth, and number of devoted Rajputs

and so left the path of auspiciousness" (Vol II, P 443 of Akbar Namah)

इसलिये अकबर को महाराणा पर आक्रमण करना पडा। इस आक्रमण का एक और दूसरा कारण भी था। बहुत से राजपूत राजाओं ने मुगलों से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। उदयसिंह ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया था। वास्तविक परिस्थिति से अपरिचित होने के कारण Rawlinson कहता है कि

"To this day they (the Sisodias of Mewar, R C) boast that they alone dishonoured their race by no union with the unbeliever" ("Indian Historical Studies," P 109)

लेकिन प्रश्न सिर्फ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने का ही नहीं था। यह तो मेवाड की स्वाधीनता का सवाल था। मेवाड के आत्म समर्पण कर देने पर सिर्फ सिसोदिया राजपूतों की स्वतन्त्रता ही नाश नहीं होती थी बल्कि देशभक्तों का एक सुदृढ एवं महत्वपूर्ण केन्द्र भी टूट जाता था। मेवाड को देशभक्तों को उत्साहित करने के लिये, उनको दुर्दिनों में आश्रय देने के लिये, और समय पर उनका नेतृत्व करने के लिये जीवित रहना चाहिये।

लेकिन अगर मेवाड को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना हो तो उसको अपने चारों ओर फैले हुए एकान्तता (Isllation) के पौधे को तोडकर फेंकना पडेगा। अब सांगा के समान हिन्दू-मुसलमान स्वार्थ-जन्य संघ से काम नहीं चलेगा। इस समय तो राष्ट्रीय संघ की आवश्यकता थी। इसके लिये राष्ट्रीय नीति चाहिये और यह मेवाड के खोये हुए नेतृत्व को पुन प्राप्त किये बिना असम्भव था। इसलिये उदयसिंह ने सर्व प्रथम मेवाड का प्रभुत्व बून्दी, सिरोही, झालावाड आदि पर स्थापित किया। जब राजपूताना में मेवाड़ की स्थिति सुदृढ हो गई, जब उदयसिंह ने मालदेव को कई बार पराजित कर दिया तब बाहर से भी बहुत से मुसलमान मुगल संकट से मुक्ति प्राप्त करने के लिये मेवाड में आ गये। उदयसिंह इनका स्वागत करने के लिये सदैव तय्यार था। इस तरह वास्तविक हिन्दू मुसलमान मैत्री स्थापित हुई।

इस परिस्थिति में मेवाड़ मुगलों के समक्ष समर्पण नहीं कर सकता था। वह तो वचन बद्ध था। अब अपने मित्रों से विश्वासघात किस तरह किया जा-सकता था ?

राष्ट्रीय मुसलमानों के साथ मैत्री स्थापित कर उदयसिंह ने सिसोदिया परम्परा को धार्मिक एवं जातीय राष्ट्रीयता से वास्तविक धर्मातीत राष्ट्रीयता में बदल दिया। उसने हिन्दू और मुसलमान साथियों के हृदय को एक बना दिया। दोनों दल धार्मिक सहिष्णुता के पवित्र सूत्र से बन्धे हुये थे। इस मित्रता का ध्येय स्वार्थ नहीं बल्कि मुग़ल साम्राज्यवादिता का विरोध था। कालान्तर में यह मैत्री पुष्ट होकर सुदृढ़ हो गई और हल्दीघाटी के युद्ध में यह अमर हो गई। उदयसिंह इस मैत्री का जन्म दाता एवं संरक्षक था। भला संरक्षक अपने आश्रित के हितों का बलिदान किस प्रकार कर सकता है ?

उदयसिंह के आलोचक यह कह सकते हैं कि उसका हिन्दु होकर मुसलमानों से मैत्री करना अनुचित था। लेकिन इससे तो उदयसिंह की राष्ट्रीयता एवं दूरदर्शिता ही सिद्ध होती है। उसका मेवाड़ की स्थिति को सुदृढ़ बनाना ही हिन्दू धर्म की महान सेवा थी। दूसरा, राजनीति समयोपचारी है और यह मैत्री राष्ट्रीयता एवं आवश्यकता दोनो को पूर्ण करती है। कोई भी देश धर्मान्धता की नींव पर न तो आश्रित किया जासकता है और न धर्मान्धता के शस्त्र से बचाया जा सकता है। तीसरा, उदयसिंह जानता था कि उसके समय में राजनीति का गुरुत्वाकर्षण बिन्दु सामाजिक एवं धार्मिक केन्द्र से हट कर राजनैतिक एवं आर्थिक केन्द्र पर आ टिका था। इसलिये प्राचीनकालीन नीति राजनैतिक एवं आर्थिक कारण जन्य मुग़ल-सिसोदिया विरोध का सफल मुकाबला नहीं कर सकती थी। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उदयसिंह अपनी प्रकृति से धार्मिक नेता नहीं बन सकता था। अकबर की सेना में बहुत से हिन्दू, हिन्दू जाति के स्वार्थों के विरुद्ध अकबर की सहायता कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में उसने राष्ट्रीय मुसलमानों का साथ देकर बुद्धिमानी का ही परिचय दिया। चौथा, उदयसिंह की सारी आत्मशक्ति मेवाड़ को शक्तिशाली बनाने के लिये जाग्रत हो गई थी। उसमें तो एक नवीन चैतन्यता काम कर रही थी जो आस पास के वर्षों के जमे कुड़े कर्कट को बिखेर बहा लेजाये प्रकट नहीं हो सकती थी। उदयसिंह का मस्तिष्क तो

एक उच्च स्तर पर काम कर रहा था। इसलिये छोटी २ बातों पर ध्यान देने के लिये न तो अवकाश था और न यह उचित ही था। विधि विधान उसे कहाँ ले जा रहा था, यह शायद वह स्वय भी नहीं जानता हो, लेकिन मेवाड के कल्याण का सही मार्ग हिन्दु-मुसलमान राष्ट्रीयवादी मैत्री में ही है, यह सत्य वह अच्छी तरह समझता था। उदयसिंह ने मेवाड को शक्तिशाली बनाने के लिये पूर्वात्य बुद्धि और पाश्चात्य (खास करके रोमन) लोगों की निश्चयात्मकता का उपयोग किया। हिन्दु-मुसलमान मैत्री इसी का परिणाम थी।

यह तो मानना पडेगा कि अकबर से किसी भी राज्य का दोस्ती करना अपनी स्वतन्त्रता का समर्पण एव साम्राज्यवादी शक्ति के हाथों की कठ पुतली बनना था। अकबर की राजपूत नीति वह विष था, जिसका एक बार रक्त में प्रवेश हो जाने पर कोई उपचार नहीं था। अकबर के प्रवल प्रशसक डॉ० राय चौधरी को भी कहना पड़ता है कि—

"He (Akbar, R C) thought of playing against the jealous Musalmans with the helf of the valient and much wronged Hindus

("Din-i Ilhi" P 47,)

यही मत Pringle kennedy का भी है।

"The self-seeking personal disaffection of many of these Muhammedan grandees drove akbar more and more to seek Rajput support"

("A History of Great Mughal", P 296)

अकबर की राजपूत नीति एक भीषण षटयन्त्र था। इसमे 'विभाजन और शासन' का सिद्धान्त नवीन वस्त्रों में अवतरित था। अकबर राजपूत वीरता के राष्ट्रीय तत्वों को नष्ट करने मे लगाना चाहता था। (Manucci, Vol 1, P 120)। यह राजपूत तलवार की सहायता से मुगल साम्राज्य बनाने का प्रयत्न था। दूसरा, इस नीति द्वारा अकबर मुसलमानों की सैनिक प्रधानता का प्रतिकार करने की धमकी का द्योतक है। ये दोनों परिस्थितियाँ उदयसिंह को स्वीकृत नहीं थी। मुसलमानो का पक्ष लेकर स्वतन्त्र हिन्दु राज्यो

से लड़ना एक महान् पाप था। यह वीरता का अपमान था। सच्चा राजपूत अपने देश, धर्म, स्वामी, सन्मान आदि के लिये लड़ता है, विदेशियों का नौकर बनकर नहीं। युद्ध तो राजपूत की स्वाभाविक क्रिडा है भी। लेकिन **वीरता को द्रव्य, सन्मान आदि के लिये बेचना वैश्यागिरि है।** मेवाड़ मुगलों के लिये राष्ट्रीय-तत्वों के रक्त से अपनी तलवार कभी अपवित्र नहीं करेगा, यह उदयसिंह का दृढ़ निश्चय था।

इस तरह मेवाड़ की स्वतन्त्रता मुगल साम्राज्यवादिता को एक करारी ललकार थी। अकबर ने अपने राजपूत सम्बन्धियों को साथ लेकर चित्तौड़ का किला घेरा। जयमल को दुर्ग रक्षार्थ छोड़ वह पूर्व योजनानुसार पहाड़ी इलाके मे चला गया। किले की दिवारों की रक्षा का काम विहार के मुसलमान बन्दुकचियों को सोंपा गया। दुर्ग में हिन्दु-मुसलमान मित्रता डेविड़ और जोनाथन की अमर मैत्री के समान रही। उदयसिंह की उदार नीति-ने दोनों जातियों के हृदय को लोह शृंखलाओं से बांध दिया था। अगर निस्वार्थ स्वामी भक्ति के दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि अकबर को हिन्दु सैनिकों की अपेक्षा उदयसिंह को अपने मुसलमान सैनिकों का ज्यादा सन्मान प्राप्त था।

यह विहार के मुसलमान वन्दुकचियों की अमर प्रतिष्ठा की बात है कि उन्होने मेड़तिया जयमल की अध्यक्षता मे किले की दिवारों की रक्षा प्राणप्रण से की। हिन्दु और मुसलमानो का रक्त समिश्रित होकर चित्तौड़ की दिवारों पर वहा। हुमायूं के वेटे ने उस चित्तौड़ की रक्षा मुसलमान वीरों द्वारा होते हुवे देखी, जिसकी सहायता के लिये हुमायूं ने स्वयं धार्मिक वन्धनों को अस्वीकार कर दिया था।

इस युद्ध में अकबर की सेना मे हिन्दु और उदयसिंह की सेना मे मुसलमान थे। लेकिन दोनों दलो के आदर्शों मे जमीन-आसमान का अन्तर था। अकबर के लिये Mrs. Beveridge कहती है कि

"Akbar was not the ruler of a summer's day but a man of strenuous action and with a storong and stout annexationist before whose sun the modest star of Lord Dalhousie pales."

(I" troduction to Van Noer's "Emperor Akbar", P. xxxvii)

इसलिये अकबर के साथ राजपूतों का सम्बन्ध वीर चरित्र का अवमूल्यन था। यह तो वीरता को पैसे या इनाम या आमोद प्रमोद के लिये बेंचना था। साथ ही साथ यह मित्रता मेवाड की स्वतन्त्रता के विरुद्ध भीषण षड्यन्त्र था। यह तो एक चाल थी जो कि हिंदु समाज को हिन्दुओं की कमजोरी और मुगल साम्राज्य के शत्रुओं को राजपूत वीरता का चित्र दिखाती थी। यह नीति लाभदायक थी, पर महान् नहीं, उपयोगी थी लेकिन आदर्शवादी नहीं। यह तो लडकियों की किश्त द्वारा बेरोजगारी के विरुद्ध बीमा थी। लेकिन उदयसिंह के दल में बिलकुल दूसरी परिस्थिति थी। अकबर की सेना के राजपूत स्वर्ण मित्र एव बिकाऊ थे। स्वतन्त्रता के समर्थक हिन्दु एव मुसलमान तो मेवाड के साथ थे। मेवाड की नीति महान्, मेवाड का ध्येय ऊँचा और मेवाड की शक्ति अभेद्य थी। यहाँ सब का ध्येय स्वय एव अपने मित्रों को मुगल दासता से बचाना था। बिगैर दबावी, बिगैर लालच, भीषण त्याग के ज्ञान सहित सीसोदिया और उनके साथी मुसलमानों ने अकबर की मुगल सेना और राजपूत सम्बन्धियों का आत्म सन्मान रक्षार्थ प्रबल युद्ध किया।

गलती से इतिहासकार अकबर को राष्ट्रीय नीति का जन्मदाता मानते हैं। सत्य तो यह है कि मुगल दल लुटेरों का गिरोह मात्र था। अकबर की सेना मे भाडे के टट्टू थे। इसके सैनिकों का ध्येय स्वार्थ सिद्धि और अकबर का उद्देश्य भारत विजय था। इसके विरुद्ध मेवाड का दल शत प्रतिशत राष्ट्रीयवादी था। यहाँ हिन्दू मुसलमान स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये युद्ध कर रहे थे। यह इतिहास की विषमता है कि राष्ट्रीयवादी को 'कायर' और स्वार्थरत को 'राष्ट्रीय' कहा जा रहा है। तथाकथित इतिहासकारों के अज्ञान के सिवाय इसको क्या कहा जाय ?

चित्तौड और हल्दीघाटी के कैलाशवासी मुसलमान अपनी तलवार की कलम और रक्त की स्याही से उदयसिंह को राष्ट्रीय महानता का सन्देश लिख रहे हैं। उनका पवित्र खून स्वनाम धन्य इतिहासकारों द्वारा किये उदयसिंह के प्रति अन्याय के विरुद्ध आवाज बुलन्द कर रहा है। दुर्भाग्य तो यह है कि अपने आपको महान इतिहासज्ञ समझने वाले सज्जनों में से किसी ने भी इस चित्कार को सुन अपनी ऐतिहासिक प्रतिभा का परिचय नहीं दिया। लेकिन ये अज्ञाननाथ सत्य को छुपा नहीं सकते। इन मुसलमानों का रक्त अकबर की सेना के राजपूत सैनिकों के रक्त से ज्यादा पवित्र है। यह तो विशुद्ध गगाजल है। इस रक्त को उच्च स्तर पर सजाने का ध्येय उदयसिंह को ही मिलना चाहिये। यह कार्य सिद्धि एव उदयसिंह की राष्ट्रीय नीति उसको 'महान' की उपाधि से विभूषित करती हैं। सिर्फ आख से अन्धे और नाम नयन सुख, इतिहासकार ही इस सत्य को देख नहीं सकते ?

डिंगल के सम्बन्ध-सूचक परसर्ग

(प्रो० श्री कन्हैयालाल सहल, बिड़ला कॉलेज, पिलानी)

[शोध-पत्रिका के सम्पादक-मण्डल के सदस्य श्री कन्हैयालाल सहल आधुनिक हिन्दी साहित्य के गम्भीर विद्वान् और समालोचक की भांति हिन्दी जगत में सुविख्यात हैं। राजस्थानी भाषा के सम्बन्ध में भी आपने बहुत कुछ काम किया है। राजस्थान की कहावतों के सम्बन्ध में आपने शोध-खोज कर थिसिस् लिखा है; जो शायद शीघ्र ही प्रकाश में आयेगा। श्री सहल ने प्रस्तुत लेख में डिंगल के सम्बन्ध-सूचक परसर्गों' के सम्बन्ध में उदाहरण देकर समझाया है! इस सम्बन्ध में अब तक बहुत कम प्रकाश डाला गया है!

राजस्थानी भाषा के विद्वानों तथा विद्यार्थियों के लिये लेख पठनीय और उपयोगी है।

—सम्पादक]

डिंगल मे अनेक संबन्ध सूचक परसर्गों का प्रयोग होता है जिनमे से सर्व प्रथम तणौ, तणी, तणा और तणै के क्रमशः उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

१ पगां न बल पतसाह, जीभां जसबोलां तणौ।
अब जस अकबर काह, बैठा ही बैठा बोलसां॥

अर्थात् हे बादशाह! चारणों का बल तो जिव्हा का बल होता है, पैरो का बल नहीं। इसलिये हम तो बैठे बैठे ही अकबर के यश का बखान करेंगे।

२ राजकंवरी जिका चढ़ी चंवरी रही,
आप भंवरी तणी पीठ आयो॥

अर्थात राजकुमरी चौरी (विवाह-मंडप) मे चढ़ी रही और वीरवर पाबू स्वयं काली घोड़ी कालमी की पीठ पर सवार होकर चल पड़ा।

लोप होने से 'पणउ' रूप हो सकता है। उसके 'प' को 'त' आदेश होकर 'तणउ' बना होगा, यही संभव ज्ञात पड़ता है। डिंगल में हेमचन्द्र के संबंधिन अर्थ वाले तणउ का संबन्ध कारक में बहुत प्रयोग पाया जाता है। ❀

अध्यापक श्री बेचरदास जीवराज दोशी षष्ठी सूचक तण की व्युत्पत्ति चर्चा करते हुए अपने 'गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं:—

"आ' "तण" नी उत्पत्ति विशे एक मत सुनिश्चित नथी। केटलाक विद्वानोंषष्ठीविभक्तिवाला आत्मनः अत्तनों अत्तणों रूपना अंगभूत 'तण' ऊपर थी उक्त तण ने नीपजावे छे। त्यारे केटलाक विद्वानों तद्धित ना 'पुरातन' वगैरे शब्दो मां वपरायेला। 'तन' प्रत्यय ऊपरथी उक्त तण नी व्युत्पत्ति बतावे छे। संबन्ध अर्थ ने सुचववा माटे कीय (परकीय, जनकीय, राजकीय ६-३-३१ है।) इक (वार्षिक, मासिक, ६-३-८० हे।) 'ण' (पुराण ६-३-८६ हे।) 'तन'(अने पूर्वाह्णेतन, अपराह्णेतन, सायंतन, चिरंतन, अद्यतन, ६-३-८७, ८८ हे।) वगेरे अनेक प्रत्ययो वपराये छे। तन वगेरे प्रत्ययो लाग्या पछी तैयार थयेलु अंग विशेषण रूप बने छे, अने तेथी विशेष्यनी पेठे लिंग अने विभक्ति वचनों ने धारण करे छे। रामतणो भाई। रामतणी बान। रामतणु कुल। मारा विचार मुजब पुरातन वगेरेमां वर्तता 'तन' ऊपरथो तण लाववामां आवे तो विशेष्य-विशेषण भावनी घटना बराबर थशे। जो के ए 'तन' संस्कृत मां सार्वत्रिक प्रत्यय नथी तो पण लोकभाषा मां एने सार्वत्रिक थयेलो मानी शकाय एम छे। एवा तो बीजां घणां उदाहरणो छे। के जे प्राचीन समय मां सार्वत्रिक न होय अने पछी थी सार्वत्रिक थई गया होय:—

सप्तमी नो "स्मिन" प्रत्यय संस्कृत व्याकरणनी दृष्टि ए सार्वत्रिक नथी पण लोक भाषामां अने आर्ष प्राकृतमां बुद्धम्मि बुद्धम्हि (पा०) लोगसि बंभचेरंसि (आ०) वगेरे प्रयोगो उपलब्ध छे। आपणी भाषामां प्रचलित षष्ठी विभक्तिवालां रामतणो के रामनो वगेरे रूपो विशेषण जेवां छे एटले तेमनी विशेषण रूपता टकाववा विशेषण रूप 'चिरंतन' ना "तन" ऊपरथी 'तण' आवे तो विशेष सुगमता थाय छे।

❀ नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १४ अंक २ में श्री गजराज ओझा का 'डिंगल भाषा' शीर्षक लेख पृ. १५३-१५४।

आत्मन अत्तनो अत्तणो रूपना तणो अश उपरथी तण ने नीपजावीए तो तेमा नीचेनी-आपत्तियो छे —

१ 'आत्मन' रूप फक्त षष्ठी विभक्तिना जुज नथी द्वितीया अने पचमीमा पण एज रूप वपराय छे । एथी प्रस्तुतमा षष्ठीना चोक्कस अर्थनी असगति थशे

२ 'त्तनो' अशमा 'त्तन' एटलो अश 'आत्मन्' ना त्मन् नु रूपातर छे अने मात्र 'अम्' षष्ठी सूचक प्रत्यय छे । एथी । 'त्तनो' उपरथी आवेलो तण षष्ठी ने केम सूचवी शकशे ? वली 'त्तनो' ना 'त्त' अने 'ओ' ने कोई पण सबल आधार विना तजी पण केम शकाय ?

३ उक्त 'त्तनो' अशमा विशेष्य प्रमाणे परिवर्तन पामवानु सामर्थ्यज नथी तो ए उपरथी ऊपजेला तणमा ए सामर्थ्य शी रीते आवे ?

उक्त 'चिरतन' मा आवेलो 'तन' सबन्ध सूचक प्रत्यय छे एथी ए उपरथी 'तण' ने लावीए तो उक्त एक पण आपत्ति नो सभव नथी । चालू गुजरातीना षष्ठी विभक्तिना 'नो', 'नी', 'नु' प्रत्ययोना मूल मा पण आ 'तन' प्रत्यय छे, पृ० २५४-२५६ (गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति) ।

अर्थात् इस 'तण' की उत्पत्ति के विषय में एक मत सुनिश्चित नहीं है। कुछ विद्वान षष्ठी विभक्ति वाले आत्मन अत्तानो अत्तणो रूप के अगभूत 'तण' में उक्त तण को निष्पन्न हुआ मानते हैं तो कतिपय विद्वान तद्धित पुरातन वगैरह शब्दों में प्रयुक्त तन से तण की व्युत्पत्ति बतलाते हैं । सबन्ध अर्थ सूचित करने के लिए 'कीय' (परकीय जनकीय, राजकीय, ६-३-२१ है) इक (वार्षिक, मासिक ६-३-८० है) ण (पुराण ६-३-८६ है) और तन (पूर्वाह्णेतन, अपराह्णेतन, सायतन, चिरंतन, अद्यतन ६-३-८७, ८८ है) वगैरह अनेक प्रत्यय व्यवहृत होते हैं । तनें वगैरह प्रत्यय लग जाने के बाद तैयार हुआ अंग विशेषण रूप बनता है, इसी से लिंग और वचन में वह विशेष्य का अनुसरण करता है । जैसे-रामतणो भाई, रामतणी बात, रामतणु कुल । मेरे विचारानुसार तो पुरातन वगैरह में प्रयुक्त 'तन' से तण को निष्पन्न किया जाय तो विशेष्य विशेषण भाव का बराबर निर्वाह होगा । यदि 'तन' प्राकृत में सार्वत्रिक प्रत्यय नहीं है तो क्या हुआ, यह माना जा सकता है कि लोक-भाषा में आकर यह सार्वत्रिक हो गया है । प्राचीन

समय में जो सार्वत्रिक नहीं थे और लोक भाषा में आकर सार्वत्रिक हो गये हैं, ऐसे तो बहुत से दूसरे उदाहरण मिलते हैं। सप्तमी का स्मिन् प्रत्यय संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से सार्वत्रिक नहीं है क्योंकि संस्कृत व्याकरण में सप्तमी का एक वचन स्मिन् मात्र सर्वादि सर्वनाम के प्रसंग में प्रयुक्त होता है। परन्तु लोकभाषा में तो यह सर्वत्र व्यापक जैसा है। इसीलिये तो पालीभाषा तथा आर्ष प्राकृत में बुद्धस्मिं, बुद्धम्हि (पा०) लोगंसि; बंभचेरंमि (आ०) वगैरह प्रयोग उपलब्ध है।

अपनी भाषा में प्रयुक्त षष्ठी विभक्तिवाले रूप रामतणो, रामनो आदि विशेषण की तरह के हैं, इसलिए विशेषण रूप चिरंतन के तन से यदि तण को निष्पन्न किया जाय तो विशेष सुगमता रहेगी।

'आत्मन': 'अत्तनो' 'अत्तणो' के तण अंश से यदि तण की व्युत्पत्ति मानी जाय तो नीचे लिखी आपत्तियाँ उठती हैं:—

१. आत्मनः केवल षष्ठी विभक्ति का ही रूप नहीं है, द्वितीया और पंचमी मे भी तो यही रूप प्रयुक्त होता है। फिर भाषा में यह केवल षष्ठी का अर्थ ही क्यों दे?

२ त्तनो अंश का त्तन आत्मन के त्मन् का रूपान्तर है और षष्ठी सूचक प्रत्यय तो केवल 'अस्' है। ऐसी हालत मे त्तनो से आया हुआ तण षष्ठी सूचक कैसे ह सकेगा? और फिर तनो के त्त और ओ को किसी सबल आधार के बिना बदल भी कैसे सकते है?

३. उक्त 'त्तनो' अंश मे विशेष्य की तरह परिवर्तित होने की सामर्थ्य भी नही है तो फिर इसी से उत्पन्न तण मे ही यह सामर्थ्य क्यो कर आ जायगी?

उक्त 'चिरंतन' मे जो 'तन' प्रत्यय है, वह सबन्ध सूचक है। इसलिये 'चिरंतन' के 'तन' से 'तण'को निष्पन्न समझा जाय तो ऊपर लिखी एक भी आपत्ति नहीं उठेगी। चालू गुजराती से षष्ठी विभक्ति के नो, नु, नी आदि प्रत्ययो के मूल में भी यही तन प्रत्यय है।

'वेलि किसन रुकमणी री के विद्वान सम्पादकों ने तणौ,तणी आदि को संस्कृत तनु शरीर से व्युत्पन्न किया है और तरफ या प्रति के अर्थ मे तन शब्द

सम्बन्धी निम्न लिखित उदाहरण हिन्दी से भी दिया है —

"विहँसे करुणा ऐन, चितै जानकी लखन तन" उक्त व्युत्पत्ति मे भी समाधान नहीं होता। श्री दोशीजी ने चिरतन आदि के तन को लेकर तण की व्युत्पति के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वे ही सबसे अधिक युक्तियुक्त जान पड़ते हैं, अन्य विद्वानों ने जो व्युत्पत्तियाँ दी हैं, उनमें कष्ट कल्पना अधिक है।

कउ=का। जैसे,

"सारी रात पुकारियउ लइ लइ प्रियकउ नाँम।"

अर्थात् तू रात भर प्रियतम का नाम ले लेकर पुकारता रहा है। विद्वानों के मतानुसार 'कउ' संस्कृत 'कृत' का अपभ्रंश रूप है।

केरउ = के। जैसे,

"जाणे गिरिवर करउ शृंगा।" अर्थात मानो श्रेष्ठ पर्वत के शिखर हैं

केरइ=के। उदाहरणार्थ,

"पाणी-केरइ कारणइ प्री छडइ अधराति।"

अर्थात् पानी के लिए प्रियतम आधी रात को ही छोड़ कर चले जाते हैं।

केरा=के। यथा,

"डूँगर-केरा वाहला, ओछाँ-केराँ नेह।
वहता वहइ उतावला, झटक दिखावइ छेह॥"

अर्थात् पहाड़ के नाले और ओछे पुरुषों का प्रेम बहते समय तो बड़ी तेजी से बहते हैं, परन्तु तुरन्त ही छेह (अन्त) दिखा देते हैं।

केरी=की। जैसे,

"चपा केरी पाँखड़ी, गूँथूँ नवसर हार।
जउ गल पहरूँ पीव विन, तउ लागै अगार॥"

अर्थात् चंपे की पंखुरियों का नौ लड़ियों वाला हार गूँथती हूँ यदि उस गले में पहनना हूँ तो प्रियतम के बिना अगार-सा लगता है।

करे=के। यथा,

"साहिब आया, हे सखी, कज्जा सहु सरियाँह।
पूनिम-केरे चंद ज्यूं, दिसि च्यारे फलियाँह॥"

अर्थात् हे सखी, स्वामी आए, सब कार्य सफल हुए। पूर्णिमा के चंद्र की तरह चारों दिशाएँ प्रफुल्लित हो गई हैं।

'केरी' आदिसंबन्ध सूचक परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश में भी मिलता है। उदाहरणार्थ—

"जिह सुय जणयहो केरी" (यथा सुता जनकस्य)

हेमचंद्र की अप्रभ्रंश व्याकरण का एक सूत्र है "संबन्धितः केर-तणौ"। अर्थात 'केर' और 'तण' संबन्ध-सूचक हैं। उदाहरण लीजिये—

"गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु केरए हुंकारडए मुहहुं पडन्ति तृणाइं॥"

अर्थात हे हरिणो। जिसकी हुंकार से मुख के तृण गिर जाते हैं, वह सिंह चला गया, इसलिए निश्चिन्त होकर जल पिओ।

'तण' के डिंगल भाषा से उदाहरण दिये जा चुके हैं। अपभ्रंश का एक उदाहरण लीजिये—

"जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्भु पिएण।
अह भग्गा अम्हहंतणा तो तें मारिअडेण॥"

अर्थात यदि शत्रु भाग गये है तो मेरे प्रिय ने उन्हे भगाया है और यदि हमारी सेना के लोग भागे है तो प्रिय की मृत्यु के बाद ही ऐसा हुआ है।

"केरउ" आदि की व्युत्पत्ति के संबन्ध में बीम्स तथा हार्नली एक मत हैं। इनकी धारणा है कि ये समस्त रूप सं० कृतः तथा प्रा० केरो या केरक से संबद्ध हैं। हार्नली के अनुसार क्रमिक विकास नीचे लिखे ढ़ंग से हुआ होगा। सं० कृतः ऽ प्रा० करितो, करिओ, केरको ऽ पुरानी हिन्दी केरओ, केरो; हिन्दी केर, का।

पिशेल तथा कुछ अन्य संस्कृत विद्वानों की धारणा थी कि हिंदी 'केर' सं० कार्य से निकला है। कैलाग के अनुसार हिन्दी कौ या का का सीधा सम्बन्ध सं० कृत के प्राकृत रूप किद या कद से हो सकता है।" (हिन्दी भाषा का इतिहास (धीरेन्द्र वर्मा) पृ० २४७)

टेसिटरी 'केरउ' की व्युत्पत्ति एक अनुमानित शब्द 'कार्यक' से मानते हैं। सन्दइ=के। उदाहरणार्थ—

> आडा डूँगर, दूरी घर, वणइ न जाणइ भत्त।
> सज्जण-सन्दइ कारणइ, हियउ हिलूसइ नित्त॥

अर्थात् बीच में पर्वत हैं और घर दूर है। जाना किसी भाँति नहीं बनता। प्रियतम के लिए हृदय नित्य ही लालायित रहता है।

सदी=की। जैसे,

> "पीहर-सदी डूँमणी ऊँमर-हदइ सथ्थ।"

अर्थात (मारवणी के) पीहर की एक डोलिन ऊमर के साथ में थी।

सन्दियाँ=की। सदउ=का। जैसे,

> लहरी सायर-संदियाँ बूठउ-सदउ राव। "

अर्थात समुद्र की लहरियाँ हों और बरसे हुए की ध्वा हो।

काँ=के। यथा,

> "विसरियाँ विसर जस बीज बीजिजै
> खारी हालाहल खलाँह।
> त्रुटै कन्ध मूल जड त्रुटै
> हल धर काँ वाहताँ हलाँह॥"
>
> (वेलि क्रिसन रुकमणी री १२४)

इसलिए हे वीरो! बीते हुए समय को विसार कर यश के बीज बोने चाहिए जिसमें कि यह वेला शत्रुओं को हलाहल विष के समान कड़वी लगे। इतना कह कर युद्ध में प्रवृत्त हलधर के चलाते हुए हलों के प्रहार से शत्रुओं के कन्धों रूपी डालियों की जड़ें टूटने लगीं, जैसे किसान के चलाये हुए हलों से खेत में जड़ें टूटती हैं। ऊपर के पद्य में "हलधर काँ" से तात्पर्य है "हलधर के।"

"आचार्य पतञ्जलि की दृष्टि में शब्दतत्व"

(श्री रामशंकर भट्टाचार्य)

[उक्त लेख में विद्वान लेखक ने महर्षि पतंजलि की शब्द तत्व–सम्बन्धी दृष्टि और विचारधारा पर प्रकाश डाला है। भारतीय दर्शनों में शब्द तत्व के सम्बन्ध मे जो विभिन्न विचार व्यक्त किये गये हैं; वे विद्वानों से छिपे हुए नहीं हैं; अतः यहाँ उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कहना चाहते। प्रस्तुत लेख में शब्द तत्व से सम्बन्धित वाक्यों का विभागीकरण विद्वान लेखक के अध्ययन और चिन्तन का परिचायक है। इस विभागी-करण से पाठकों को समझने में आसानी होगी। इसमें सन्देह नहीं है। लेख पठनीय और चिन्तनीय है।

—सम्पादक]

शब्द तत्त्व विद्वानों के मूर्धाभिषिक्त आचार्य पतञ्जलि का 'शब्द तत्त्व' के विषय मे क्या अभिमत था – यह इस निबन्ध का विचार्य विषय है। प्रायः प्रत्येक दर्शन मे शब्द के विषय में स्वदृष्टि के अनुसार विचार किया गया है, और शब्द विचार तो व्याकरण का एक मात्र विषय है। इस विशिष्ट विषय में पतञ्जलि का सर्वोच्च प्रमाणभूत है-ऐसा वैयाकरणों का मत है। यहाँ उनके वाक्यो का ही संकलन पूर्वक शब्द तत्व के विभिन्न विषयो पर उनका क्या अभिमत था, यह संक्षेप मे दिखाया जायगा।

शब्द तत्व से साक्षात् संबन्ध रखने वाले पतञ्जलि के वाक्यों का निम्न विभाग हो सकता है:—

(क) शब्द स्वरूप संबन्धी

(ख) शब्द विभाग सम्बन्धी

(ग) शब्दार्थ का सबन्ध सम्बन्धी
(घ) वर्ण सम्बन्धी
(ङ) पद सम्बन्धी
(च) वाक्य सम्बन्धी
(छ) शब्द प्रवृत्ति सम्बन्धी
(ज) अपभ्रंश सम्बन्धी
(झ) लोक तथा शब्द का परस्पर सम्बन्ध सम्बन्धी

(क) शब्द स्वरूप संबंधी

शब्द के स्वरूप के विषय मे पतञ्जलि का एक अति स्पष्ट वाक्य है—"कस्तर्हि शब्द येनोच्चारितेन[1] सास्नालाङ्गूलककुदखुर विषाणिना सप्रत्ययो भवति स शब्द." (पस्पशा १), अर्थात जिसके उच्चारण से सास्ना (गलकम्बल) आदि की प्रतीति हो, वह शब्द है। इस वाक्य में 'उच्चारित' पद अवधातव्य है, इससे सूचित होता है कि उच्चारणजन्य होना शब्द के लिये आवश्यक है, अत मृदङ्ग आदि के अभिघात से उत्पन्न ध्वनि को शब्द नहीं कहा जायगा (व्याकरण में)। इसके साथ यह भी ज्ञापित हुआ कि शब्द से कुछ न कुछ अर्थ (द्रव्य, जाति, गुण या क्रिया रूप) का बोध होना आवश्यक है, तथा अर्थवाची होने से ही ध्वनि को शब्द कहा जायगा। अत वैयाकरण समाज मे प्रसिद्धि है—लोके व्यवहर्तृषु पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्ध श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वात वर्णरूप ध्वनिसमूह एव शब्द इत्यर्थ ", अर्थात शब्द (क) लौकिक, (ख) व्यवहार्य, (ग) अर्थ बोधक (घ) कर्णग्राह्य किञ्च (ङ) वर्णात्मक (ध्वन्यात्मक नहीं) होगा। पतञ्जलि ने स्वय भी इस प्रकार ही कहा है—"अथवा प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते" (पस्पशा), अर्थात् अर्थ बोधक ध्वनि को शब्द कहा जाता है। व्याकरण का विषय वही शब्द होगा, जिसका कुछ न कुछ अर्थ अवश्य है। शब्द

---

१ 'येन उच्चरितेन' इसका व्याख्या में भर्तृहरि ने सूक्ष्म विचार किया है। ध्वनि की दृष्टि में 'उच्चारण' का प्रयोग किया गया है, पर अक्रम तथा नित्य स्फोट की दृष्टि में उच्चारण=प्रकाशन होगा (अतो भवो येनाच्चारितेन इत्युभयथा व्याख्यते, येनोच्चारितेन प्रकाशितेन, अथवा येनाच्चारितेन—दीपिका पृ० ५)

स्वामी ने भी यही बात कही है-" अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकार विसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः । श्रोत्रग्रहणे हि लोके शब्द शब्दः प्रसिद्धः" (मीमांसा भाष्य १ । १ । ५) यह लक्षण उच्चारण रूप व्यवहार की दृष्टि से भाषित हुआ है

शब्द का वास्तव स्वरूप निम्न वाक्य में प्रतिभासित हुआ है— "श्रोत्रोपलब्धिः बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः" (अइउण भाष्य)। पतञ्जलि के इस स्वरूप गर्भ लक्षण से पता चलता है कि बुद्धिनिर्ग्राह्यता भी शब्द का एक लक्षण है, अर्थात् प्रयोक्ता के बुद्धि तथा श्रोता के कर्ण से उसका सम्बन्ध होना चाहिए और बाद मे श्रोता को अर्थबोध होना चाहिए (यदि पहले से संकेतग्रह है, अन्यथा 'अर्थ ज्ञात नहीं हुआ है' ऐसा प्रत्यय होना आवश्यक है) 'प्रयोगेणाभिज्वलित' का तात्पर्य है वैखरीरूपापन्नता । वस्तुतः श्रोत्र से 'क' आदि वर्णों की उपलब्धि होती है, पदरूप अर्थवाचकता की उपलब्धि बुद्धि से होती है- ऐसा जानना चाहिए। इस वाक्य की प्रदीप टीका महत्वपूर्ण है, और यहाँ आलोच्य भी है ।

दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टि से भी पतञ्जलि ने शब्द स्वरूप को दिखाया है- 'प्रतीत-पदार्थ को ध्वनिः शब्द इत्युच्यते' (पस्पशा), अर्थात जिस ध्वनि से अर्थ की प्रतीति हो, वह शब्द है । इस लक्षण से मेघ ध्वनि आदि वारित होती है, क्योंकि वह प्रतीत पदार्थक नहीं है ।

दार्शनिक दृष्टि का अवलम्बन कर पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि शब्द नित्य है (नित्याःशब्दाः १।१।८) और नित्य का अर्थ है व्याकरण से अनिष्पाद्यमान । उदाहरण देकर उन्होने समझाया है कि जैसे घट निर्माण के लिये लोग कुम्भकार कुल में जाकर घट लाकर व्यवहार करते हैं, शब्द व्यवहार के लिये ऐसा कोई वैयाकरण कुल मे जाता नहीं है । लोक मे पहले से सिद्ध शब्दों को लेकर लोग शब्द व्यवहार करते है- यही शब्द की नित्यता है इसी दृष्टि का अवलम्बन कर उन्होंने यह भी कहा है कि शब्द मे वस्तुतः आगम आदेश आदि नहीं होते हैं, ये सब प्रक्रिया की दृष्टि मे है- तत्वतः नहीं (नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैः अविचालिभिः वर्णैः भवितव्यम् अनपायोपजन विकारिभिः- १।१ ४५)।

शब्द नित्यता के विषय में पतञ्जलि का यह भी मत है कि चाहे शब्द नित्य हो, या अनित्य, व्याकरणशास्त्र की सार्थकता अवश्य है, क्योंकि व्याकरण से साध्वसाधुभाव का साङ्कर्य नहीं होने पाता, और इसीलिये व्याकरण धर्मोपदेशन स्वरूप है। *

प्रयोगवादी वैयाकरणों की दृष्टि का अवलम्बन कर भाष्य में अन्य स्थलों पर भी शब्द स्वरूप सम्बन्धी विचार किया गया है, विस्तार भय से जिसका उल्लेख नहीं किया गया है। शब्द स्वरूप कितना अभ्यर्हित है, उसका प्रमाण पतञ्जलि के निम्न वाक्य में विवृत है– 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति' (६।१।८४)। इस वाक्य से यही सूचित होता है कि शास्त्रपूर्वक प्रयोग होने से शब्द अभ्युदयकारी होता है। [सम्भव है कि यह वाक्य श्रुति हो]

(ख) शब्द विभाग सम्बन्धी

प्राय प्रत्येक आचार्य अपनी दृष्टि के अनुसार प्रमित पदार्थ के अवान्तर विभाग करते हैं, क्योंकि उनके बिना किसी प्रकार का 'विभज्यान्वाख्यान' सम्भव नहीं है। शब्द विभाग के विषय में पतञ्जलि का क्या मत था, यह उनके वचनों का सङ्कलन कर प्रस्तुत किया जा रहा है —

भाष्यारम्भ में ही पतञ्जलि ने कहा है– वैदिक तथा लौकिक इन दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान किया जा रहा है (लौकिकानां वैदिकानां च– पस्पशा)। लौकिक=लोक में स्थित या लोक में विदित। इस वाक्य की व्याख्या में कैयट ने कहा है कि यद्यपि वैदिक शब्द लौकिक ही हैं, तथापि प्राधान्यख्यापन के लिये पृथक करके दोनों का उल्लेख किया गया है। अथवा भाषा शब्द = लौकिक व्यवहार में प्रचलित शब्दों का नाम लौकिक शब्द है, परन्तु वैदिक शब्द=

---

* शब्द यदि नित्य है और व्याकरण यदि शब्दों का निष्पादक नहीं है, तो व्याकरण की [illegible] क्या है– इसके उत्तर में कैयट कहते हैं— 'नित्येषु शब्देषु [illegible] साध्वसाधुप्रविभागज्ञानाय [illegible], (१।१।१० [illegible])। [illegible]

वेद वाक्य लौकिक व्यवहारार्थ नहीं है, क्योंकि वह वैदिक शब्द यज्ञादि के लिये आचार्य से ही शिक्षणीय होकर प्रयुक्त होता है, उससे स्थूल व्यवहार की सिद्धि नहीं होती, अतः दोनों प्रकार के शब्दों मे भेद होने के कारण पृथक कर कहा गया है। लौकिक शब्द से वैदिक शब्द में अन्य भी विशिष्टता हैं। लौकिक शब्द मे आनुपूर्वी नियम नहीं है, पर वैदिक शब्द की अनुपूर्वी नित्य है, अन्यत्र भी पतञ्जलि ने ऐसा ही कहा है। *

(ग) शब्दार्थ का संबन्ध संबन्धी

व्याकरण के प्रतिपाद्य विषयों मे यह मुख्यतम है। शब्द नित्य है, या कृतक, इसका विस्तृत विचार यद्यपि भाष्य मे नहीं है, तथापि इस विषय में भाष्यकार के सिद्धान्तभूत कइ वाक्य हैं। भाष्यकार ने कहा है-'स्वभाविकमर्थाभिधानम्' (२।१।१) अर्थात् शब्द से अर्थ का ज्ञान प्रयत्नसापेक्ष नहीं है। जैसे-रूप-ज्ञान चक्षु का स्वभाव सिद्ध व्यापार है, वैसा अर्थका बोधन कराना शब्द का स्वभाव है। (संकेत उसका सहायक तथा नियामक है यह पृथक् तर्क है)। भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है-'नित्याः शब्दार्थसंबन्धाः तत्राम्नाता महर्षिभिः, सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः' (वाक्यपदीय)।

पतञ्जलि का यह भी मत है कि यह शब्दार्थ संबन्ध नित्यता लोक से सिद्ध है, और इसमे शास्त्रकार का नियोग निरर्थक है। ऐसा शब्द हो नहीं सकता जिसका अर्थ न हो, या शब्द का प्रयोग अर्थशून्यता मे होता हो (अर्थनिमित्तक एव शब्दः १।१।४५ भाष्य)। शब्द प्रयोग की इस लोक सिद्धता को पतञ्जलि इतना प्रामाणिक मानते थे कि उन्होंने कई बार पाणिनिसूत्र की प्राप्ति होने पर भी 'नैषोऽस्ति प्रयोगः' (६।३।१) ऐसा कहा है। लोक मे जिस रूप का प्रयोग नहीं है, पाणिनि सूत्रों के व्याख्यावल से उस रूप की चिन्ता करना पतञ्जलि दूषणीय समझते थे, जैसा 'अवाद ग्रः' (१।३।५१) सूत्रभाष्य से साक्षात् रूप से विज्ञात होता है।

---

* पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है कि अन्य शब्द से अम्नाय शब्द विलक्षण है। वेद मे स्वर नियत है, वर्णानुपूर्वी भी नियत है, देश और काल भी नियत है। इतना भेद होने पर भी शब्द व्यवहार की दृष्टि से दोनों समान है (य एव वैदिकास्त एव लौकिकाः त एव तेषामर्थाः — वाजसनेयि-प्रातिशाख्य १।३ की उवट व्याख्या)

शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक भाव के विषय में अन्यत्र भाष्य मे कहा गया है—'नहहि शब्दकृतेन नाम अर्थेन भवितव्यम्, अर्थकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम्' (२ । १ । १) अर्थात् शब्दकृत अर्थ नहीं होता, पर अर्थकृत शब्द होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इस सत्य का अन्यथा चरण करना सभव नहीं है।

सबन्ध के विषय में पतञ्जलि के निम्नवाक्य सूत्रभूत हैं। नित्यो हि अर्थवताम् अर्थैरभि सबन्ध (आ० १) अर्थात् अर्थ (=पदार्थ) के साथ सार्थक शब्द का सबन्ध सदा विद्यमान है (नित्य='नियत भव- त्यप् नेर्ध्रुवे गम्ये)।

शब्दार्थ सबन्ध के विषय में इतना और जान लेना चाहिए कि सब शब्द में सब अर्थों की बोधनकारिणी शक्ति है, तथा सब अर्थों मे सब शब्दों से बोध्ययोग्यता है, पर ऐसा होने पर भी शब्दार्थ सबन्ध मे विपर्यास या विप्लव होने की आशका नहीं है, क्योंकि अर्थबोध होने के लिये सकेत चाहिए और सकेत चूँकि पुरुष व्यापार साध्य है, अत पौरुष व्यवहार मे शब्दार्थसाकर्य होने की आशका नहीं है। पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि भवतिवै कस्यचित् अर्थात् प्रकरणाद् वा अपेक्ष्य निर्ज्ञातम (२।२।११) अर्थात् अर्थ यो प्रकरण मे अपेक्षित अर्थ का ज्ञान हो जाता है, यदि अपेक्षित पदार्थ का ज्ञान प्रकरण आदि से सभव हो, तो लौकिक व्यवहार मे ही अर्थसाकर्य का भी निरास होगा — इसमे सन्देह नहीं किया जा सकता है। वस्तुत शब्द स्वय ही अन्य शब्द से सबन्धित होकर इष्ट अर्थ का बोधक हो जाता है (सर्वश्च शब्द अन्येन शब्देन अभिसबध्यमान विशेषवचन सपद्यते — २।१।५५) अत हेतु होने पर भी शब्दार्थ ज्ञान में विपर्यास होने की सभावना अति अल्प है, और यदि इसमे भी सन्देह न जाय तो प्राचीन व्याख्यान स ही सन्देह निवृत्ति करनी होगी — भाष्योक्त यह न्याय इस विषय में सभी का अत्यन्त शरण होगा।

(घ) वर्ण संबन्धी

वर्ण के विषय मे पतञ्जलि ने कई मूल्यवान वाक्य कहे हैं। वर्णोच्चारण के विषय में भाष्य में कहा गया है-' यावद् गकारे वाग् वर्तते, न तावदौकारे इति येनैव यत्नेन एको वर्ण उच्चार्यते, तेनैव विच्छिन्न तस्मिन् वर्णे उपसहृत्य तं यत्न-मन्यं यत्न मुपादाय द्वितीय प्रवर्तते' (१ । ४ । १०९) अर्थात एक वर्ण के उच्चारण

के बाद प्रथक प्रयत्न से अन्य वर्ण का उच्चारण होता है। इसी लक्षण को लक्ष्य कर काशिकाकार ने कहा है-'पृथक प्रयत्न निर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्ति आचार्याः' (प्रत्याहारवृत्ति) अर्थात् एक एक पृथक् प्रयत्न से एक एक वर्णका उच्चारण होता है, दो वर्ण का एक साथ उच्चारण संभव नहीं है। स्पष्ट ही भाष्यकार ने कहा है 'उच्चरित प्रध्वसिनः खल्वपि वर्णाः' (१।४।१०६)। वर्णों का यह क्रम वक्ता स्वयं अनुभव भी करता है, जैसे पतञ्जलि ने दिखाया है-'अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्यः, अस्मिंश्च शब्दे अयं तावद्वर्णः ततोऽयं ततोऽयम' (१।४।१०६)। इससे यह सिद्धान्त निर्गलित होता है कि वर्ण या शब्द का पौर्वापर्य बुद्धि विषय है (मञ्जुषा पृ० १५६-१६० सभापति संस्करण)

वर्ण के एकदेश से पूर्ण वर्ण का ग्रहण होता है या नहीं इसका विचार भाष्य मे है। भाष्यकार का इस विषय मे सिद्धान्त यह है कि लक्ष्य के अनुसार व्यवस्था करनी चाहिए, अर्थात् जिस पक्ष में लक्ष्य प्रयोग की संगत उपपत्ति होती है, उस स्थल में उस पक्ष को लेना चाहिए! ठीक ऐसा विचार वर्ण की अर्थवत्ता के विषय मे भी है, जहाँ पतञ्जलि का निर्णय है- 'एषां वर्णानां समुदाया अर्थवन्तः, अवयवा अनर्थकाः' (२ आ०)।

वर्ण संबन्धी उच्च विचार के साथ साथ प्रक्रिया की दृष्टि से भी विचार उपलब्ध होता है, जैसा वर्णों की सवर्णता के विषय मे पतञ्जलि ने कहा है- 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' (२-आ०)। इस विषय मे युक्ति यद्यपि नहीं दी गई है, पर पतञ्जलि प्रोक्त होने के कारण यह सर्वमान्य सिद्धान्त होगया है।

एक वर्ण से अन्य वर्ण के उच्चारण मे कितना काल लगता है, इस विषय मे पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि वर्ण से वर्णान्तर के उच्चारण में अर्धमस्ता-काल की आवश्यकता होती है। यह मत 'परः सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०६) सूत्र भाष्य से ध्वनित होता है।

वर्णों की अर्थवत्ता के विषय मे पतञ्जलि की युक्ति सारार्थदर्शिनी है। सब वर्ण अर्थवान् है, और सब वर्ण अनर्थक है-जब ये दोनो पक्ष ही समानरूप से उपस्थित हुए, तब पतञ्जलि ने उत्तर दिया कि दोनो पक्ष समानरूप से ठीक है। उन्होंने हेतु भी दिया 'स्वभावतः' अर्थात स्वभाव से ही कुछ वर्ण अर्थवान् हैं, और

कुत्र निरर्थक। यहाँ उनकी मनोहारिणी युक्ति का उद्धरण का उद्धरण दिया जारहा है-'समानमीहमानाना चाधीयानानाच केचिदर्थैयुज्यन्ते, अपरे न। न चेदानीं कश्चिद् अर्थवान् इति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भि शक्य भवितुम। कश्चिद् वा अनर्थक इति कृत्वा सर्वै रनर्थकै। तत्र किम स्माभि शक्य कर्तुम × × ×स्वाभाविकमेतत्' (आ० २), जिसका जो स्वाभाव है, उसके विषय में पर्यनुयोग करना व्यर्थ है, जैसा न्याय कन्दली में श्रीधराचार्य ने कहा है-'स्वभावस्य पर्यनुयोगत्वाभावात्'।

(ङ) पद संबन्धी

अन्य दृष्टि से भी पद का विभाग पतञ्जलि ने किया है, प्रयोगवादी वैयाकरण के लिये जो अत्युपादेय है। पदभेद के विषय मे उन्होंने कहा है-"चत्वारि पदजातानि, नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च" (पस्पश) अर्थात पद चार प्रकार के हैं, नाम, आख्यात उपसर्ग तथा निपात। पतञ्जलि का यह मत अत्यन्त प्राचीन तथा प्रामाणिक है, यास्क भी इस मत को मान चुके हैं (निरुक्त १ अ०)। मनु भाष्यकार मेधातिथि ने भी इस विभाग को इसी शब्द मे कहा है (मनु० १। ८१) इस विभाग के विषय मे अभियुक्त का वचन है-"नामाख्यातनिपातोपसर्गान् जानाति शाब्दिका"।

पद प्रयोग के विषय मे पतञ्जलि ने कहा कि कभी कभी सपूर्ण पद के लिये पद के एक देश का प्रयोग किया जाता है-'दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान प्रयुञ्जाना, पदेषु पदैकदेशान्। प्रविश, पिराडीम्, प्रविश, तर्पणम्, देवदत्त, दत्त सत्यभामा, भामा, इति (१।१।४५) अर्थात् 'प्रविश गृहम्' वाक्य के लिये केवल 'प्रविश' तथा देवदत्त पद के लिये केवल'दत्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है। आजकल की भाषा मे भी इस प्रकार संकोचमूलक प्रयोग समान रूप से विद्यमान है।

पद विषय मे अन्य तथ्य भी है। पस्पशाहिक में पतञ्जलि ने कहा है-'सन्त्येकपदानि अवधारणानि' अर्थात कभी कभी कोई पद अवधारणार्थ भी होता है, जैसे 'अपभक्ष' या 'वायुभक्ष' कहने मे उसका अर्थ होगा जो केवल अप् (जल) पीता है या वायु का ही ग्रहण करता है। पद कैसे अवधारणार्थक होता है, इसकी युक्ति भर्तृहरि ने भाष्यदीपिका में दी है, यथा-"यदातु अर्थप्रकरणादे सोऽर्थोऽभिधीयते तदा 'एव शब्दो' न श्रूयते इत्यवधारण मेकपदमित्युच्यते"।

रूढ यौगिक आदि विचार भी भाष्य में है। भाष्य का विचार कर भर्तृहरि इस सिद्धान्त पर पहुंचे थे कि निपातन सिद्ध पद रूढ होते हैं (रूढ्यर्थंच निपातनम्) और भाष्य के उदाहरणों से भी यह बात प्रमाणित होती है। रूढिशब्द के विषय में पतञ्जलि का एक मननीय वाक्य है—'न च रूढिशब्दा गतिभिर्विशेष्यन्त' (३।२।५५) अर्थात् रूढशब्द में जिस धातु का अन्तर्भाव किया जाता है, वह व्युत्पत्ति-निमित्त मात्र है, वह वस्तुतः उस पदार्थ का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है; यथा गम् धातु से जब गोशब्द की व्युत्पत्ति की जाती है, तब गमनार्थक गम धातु व्युत्पत्तिनिमित्त के लिये गृहीत होता है, परन्तु गोशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त गमन नहीं है। इस विषय का विशेष विचार अन्यत्र किया गया है ×।

(च) वाक्य संबंन्धी

भाष्य में कहीं कहीं वाक्य विचार भी उपलब्ध होता है। वाक्य में अर्थवत्ता तथा वाक्य का स्वरूप ही प्रायः विवेचित हुआ है। अथवत्ता के विषय में उनका कथन है 'लोके हि अर्थवन्ति अनर्थकानिच वाक्यानि दृश्यन्ते' (१।१।१ भा०)। अर्थवान् वाक्य यथा–'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन'। अनर्थक वाक्य यथा–'दश दाडिमानि: षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः अधरोरुकम् एतत्कुमीयाः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः'।

वाक्य का अर्थ क्या होता है–यह व्याकरण शास्त्र का एक आलोच्य विषय है। इस विषय में कई मत हैं, पर पतञ्जलि ने स्वयं जो कहा है, वह निम्न प्रकार है–'एषां पदानां समान्ये वर्त्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः' (१।२।४)' अर्थात् प्रत्येक पद का अर्थ सामान्य होता है। उन पदों की जो विशेष (=पदार्थ संसर्गरूप) में वृत्ति होती है, वही वाक्य का अर्थ है वाक्यार्थ पदों के पृथक् पृथक् अर्थ से कुछ विलक्षण होता है, ठीक जैसे वैशेषिक अवयवी को अवयवो के समूह

× पदविचार प्रसग में अव्यय सम्बन्धी पतञ्जलि का विचार अवधातव्य है। उनका मत यह है कि सत्त्व (=द्रव्य) का गुण हो। स्त्री पुमान् नपुंसक लिंग, तथा एकत्व द्वित्व और बहुत्व। इन अर्थों को जो छोड़ता है, वह अव्यय है (१ । १ ३८)। भाष्यकार ने पद चार प्रकार के कहा है, पर 'पद पाच प्रकार के है' ऐसा भी एक प्राचीन मत था। पतञ्जलि ने उस मत की अवहेलना क्यों की—इसके उत्तर मे माधवाचार्य ने युक्ति दी है (सर्व दर्शन संग्रह द्रव) जो पतञ्जलि की अन्तर्दृष्टि को भलीभांति समझती है।

से विलक्षण मानता है। इस वाक्य की व्याख्या में,कैयटाचार्य ने कहा है-'वाक्य ही मुख्य शब्द है, और वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दार्थ है। लाघवार्थ अन्वय और व्यतिरेक की कल्पना की जाती है और सादृश्य से पद और पदार्थ की व्यवस्था की जाती है। वस्तुत पदज्ञान में जब विशेषण विशेष्यभाव अन्वित होता है, तब वाक्यार्थ बनता है, अत वाक्यार्थ पदार्थ से भिन्न है-ऐसा पतञ्जलि का मत है। अन्यत्र भी उन्होंने ऐसा कहा है-'यद आधिक्य स वाक्यार्थ (समास प्रकरण)। हेलाराज ने कहा है कि पाणिनि तथा पतञ्जलि का अखण्ड पक्ष ही इष्ट है, अर्थात् वे, वाक्य और वाक्यार्थ को अखण्ड समझते थे। व्याकरण का यही अन्तिम प्रमेय पदार्थ है।

(छ) शब्द प्रवृत्ति संबन्धी

पतञ्जलि यह मानते हैं कि शब्द और अर्थ का सबन्ध सिद्ध है और लोक उसमें प्रमाण है। इस मत के साथ साथ शब्द की प्रवृत्ति सबन्धी कुछ विचार भी आवश्यक होता है-किस रूप से किस शब्द की प्रवृत्ति किस अर्थ में हुई, उस प्रवृत्ति का नियामक तत्व क्या है इत्यादि विषय इसमें विचार्य होता है। इस विषय में पतञ्जलि का वाक्य केवल सूत्र भूत है, विशेष विचार व्याख्यान ग्रन्थों मे ही जाना जा सकता है।

पतञ्जलि ने कहा है-"चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति , जाति शब्दा' गुणा शब्दा, क्रिया शब्दा यदृच्छशब्दा चतुर्था" (प्रत्याहार सूत्र)। इस सार वाक्य की व्याख्या में नागेश ने कहा है-"शब्दानामर्थे या प्रवृत्ति सा प्रवृत्ति-निमित्त-भेदात् प्रकार चतुष्टयवतीत्यथ" अर्थात् चार प्रकार के प्रवृत्ति निमित्त होते हैं-जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा। यदृच्छा शब्द=अर्थगत प्रवृत्ति निमित्त की अपेक्षा न कर जो शब्द प्रयोक्ता के अभिप्राय मे ही प्रवर्तित होता है। यह यदृच्छा शब्द पाणिनि का समत है (प्रदीप)

शका हो सकती है कि यदृच्छा शब्द और अपभ्रश शब्द में भेद क्या है? उत्तर—गावी आदि अपभ्रश शब्द गो रूप साधु शब्द से निवर्तित होता है। पर लृतक एक यदृच्छा शब्द है (अपभ्रश नहीं है) जो साधु है, क्यों कि वह ऋतक आदि अन्य साधु शब्द से निवर्तित नहीं होता, क्योंकि लृतक में प्रवृत्तिनिमित्त की अपेक्षा नहीं है, जो ऋतक में है, अत गावी अपभ्रश होगा (यद्यपि यह जाति शब्द है),

पर लृतक अपभ्रंश नहीं होगा, क्योंकि किसी प्रकार जाति आदि प्रवृत्ति निमित्त के अभाव से उसका व्यवहार प्रयोक्ता ने किया है। निबन्धान्तर में अपभ्रंश संबन्धी विशेष विचार किया जायगा। यदृच्छाशब्द का अन्य स्पष्टतर लक्षण है-"स्वेच्छया एकस्यां व्यक्तौ संकेत्यमानः शब्दो यदृच्छाशब्दः" (उद्योत)

भाष्यकार ने त्रयीपक्ष का भी उल्लेख किया है—"त्रयीच शब्दानां प्रवृत्ति-जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रिया शब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दा' (२ शिव सूत्र)। इन दोनों पक्षो में कौन पतञ्जलि का इष्ट है, ऐसा कहना कठिन है, पर यह कहा जा सकता है कि जब जिस पक्ष के आश्रय करने से लक्ष्य-सिद्धि में बाधा नहीं होती, उसी पक्ष को पतञ्जलि निःसंकोच स्वीकार करते हैं, अतः दोनों पक्ष पतञ्जलि के संमत है।

शब्दों की नियत-विषयता के विषय मे भी पतञ्जलि ने कुछ कहा है, यथा-शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु एव भाषितोभवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेवतु आर्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्र मुदीच्येषु" (परपश)

देशभेद से जैसा शब्द की नियतता है, ऐसा अन्य दिक् में भी है, जैसा पतञ्जलि ने दिखाया है-"समाने रक्ते वर्णे गोलोहित इति भवति, अश्वः शोणः इति। समाने च काले वर्णे गौः कृष्ण इति भवति, अश्वो हेम इति। समाने च शुक्ले वर्णे गौः श्वेत इलि भवति, अश्वः कर्क इति" (१।२।७१) अर्थात् वर्ण समान होने पर भी किसी पदार्थ को किसी शब्द से कहा जाता है किसी को अन्य किसी शब्द से, जैसे रक्त वर्ण होने से गो को लोहित कहा जाता है, अश्व को शोण इत्यादि।

शब्द प्रवृत्ति के विषय मे अन्य एक तथ्य का भी उल्लेख पतञ्जलि ने किया है -"शब्दस्तु खलु येन येन अभिसंबध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति" (१।३।१२) अर्थात् जिससे शब्द का संबन्ध जोड़ दिया जाता है, वह उसका विशेषक होता है। इस विषय का उदाहरण स्पष्ट है।

शब्द व्यवहार की प्रवृत्ति क्यों होती है, इस विषय मे पतञ्जलि की उक्ति प्रणिधेय है, यथा -'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, अर्थ संप्रत्याययिष्यामि इति शब्दः प्रयुज्यते' (२।१ १) अर्थात अर्थ का बोधन कराऊंगा - इसलिये शब्द का

प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धान्त से ही व्याकरण में और दो सिद्धान्त उत्पन्न हुए हैं, यथा (क) यदि अर्थ का बोध न हो, तो उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाँय तथा (ख) यदि किसी से अर्थ उक्त हो गया है, तो पुन उसका प्रयोग न किया जाय। इस द्वितीय नियम का अपवाद स्थल भी है, जैसा पतञ्जलि ने कहा है–"उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते, यथा 'अपूपौ दौ आनय' इति"।

(ज) अपभ्रंश–सम्बन्धी

भाष्य में कुछ स्थल पर अपभ्रश सम्बन्धी स्वल्प विचार उपलब्ध होता है। पस्पशाह्निक में कहा गया है-"एकैकस्य शब्दस्य बहवो ऽपभ्रंशा, तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी-गोणी गोता गोपोतलिका-इत्येव मादय अपभ्रशा"। पतञ्जलि का यह वाक्य शबर स्वामी से भी समर्थित हैं (मीमांसाभाष्य १।३।२४)। इस वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि व्याकरण में शब्द=साधुशब्द, अपभ्रश को 'शब्द' नहीं कहा जाता अन्यथा पतञ्जलि 'एकस्यैव साधुशब्दस्य ....' ऐसा कहते।

अपभ्रश और साधु शब्द में भेद क्या है, इसको प्राचीन दृष्टि के अनुसार कहा जा रहा है, यद्यपि अद्यतनीय भाषाशास्त्री उस सिद्धान्त को मानने के लिये उद्यत नहीं होता, और यह निबन्ध का विचारस्थल भी नहीं है। हरदत्त का वाक्य निम्न प्रकार है–"यद्यपि गाव्यादयोऽपि लोके विदितास्तथापि न ते सर्वलोक विदिता प्रतिदेश,भिन्नत्वाद अपशब्दानाम्" (पदमञ्जरी)। संस्कृतवाक् प्रतिदेश में भिन्न नहीं होती, अत उसको नित्य कहा जाता है (प्राचीनमतानुसार), और अपभ्रश शब्द देश में नियमत अवछिन्न रहता है। हरदत्त ने कहा है-"अपशब्दा हि प्रतिदेश प्रतिगृह प्रतिपुरुष प्रत्ययत्स्य भिन्नाश्च अनवस्थिताश्च" पदमञ्जरी पृ० १०)।

जब साधु शब्द से अपभ्रश होता है (उच्चारण वैकल्य आदि कारणों से), तब साधु शब्द को अपभ्रश की प्रकृति कहा जा सकता है, जैसा स्वय पतञ्जलि ने कहा है–"नचापशब्द प्रकृति, नह्यप शब्दा उपदिश्यन्ते न चानुपदिष्टा प्रकृति रस्ति" (प्रत्याहार सूत्र २ भाष्य) अर्थात् अपशब्द प्रकृति नहीं है, तथा अपशब्दों का उपदेश नहीं किया जाता है। सुतरां साधु शब्द ही प्रकृति है ऐसा सिद्ध हुआ।

पतञ्जलि का यह भी विचार है कि ज्यायानप शब्दोपदेशः (पस्पश) अर्थात् व्याकरण यदि साधु शब्दों का अन्वाख्यान छोड़कर अपशब्दों का अन्वाख्यान करता है, तब उसमें लाघव नहीं होता है। अतः व्याकरण को चाहिए कि वह साधु शब्दों का ही अन्वाख्यान करें। इस सिद्धान्त के कारण ही व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थों मे प्रत्युदाहरण में अशुद्ध शब्दों का उपन्यास नहीं किया जाता और विपरीत पक्ष का दृष्टान्त ही दिया जाता है; अशुद्धि दिखाने के लिये अशुद्ध उदाहरण नहीं दिया जाता जैसा आज कल के व्याकरणों मे दीख पड़ता है।

इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि भाष्य में कदाचित् अशुद्ध पदों से उदाहरण दिया गया है। जैसे 'बहुशूका' (४।१।१२) या 'आटिटन' (७।४।१) यद्यपि पतञ्जलि ने स्वयं इन प्रयोगों का खण्डन किया है। इसका कारण क्या है। - यह चिन्तनीय है। व्याख्याकार कहते हैं कि पतञ्जलि से दर्शित ये प्रयोग अचार्यदेशयी (=किञ्चिन्न्यून आचार्य) के हैं। पर ये प्रयोग साधु हैं, या नहीं - इसका स्पष्ट उल्लेख किसी ने नहीं किया। हो सकता है कि जिन प्रयोगो के विषय में 'इति भवितव्यम्' ऐसा कहकर बाद में उनका पतञ्जलि ने खण्डन किया है, वे प्रयोग किसी न किसी आचार्य से संमत अवश्य रहे होंगे, पर पतञ्जलि अपनी दृष्टि उन प्रयोगों को असाधु समझते थे। यदि वैसे प्रयोग सर्वथा अशुद्ध माने जाते, तो पतञ्जलि कभी भी उन प्रयोग का उल्लेख नहीं करते (न असाधुभिभीपितव्यम् - इस न्याय से) तथा व्याख्याकार भी नहीं कहते कि 'आचार्यदेशीयो के ये प्रयोग है' (४।१।१२ प्रदीप)।

व्याकरण की दृष्टि मे आचार्य-देशीयों के प्रयोगों का अपना महत्त्व है। पृथक् निबन्ध में उसकी आलोचना की जायगी।

(झ) लोक और शब्द का संबन्ध

इस विषय में पतञ्जलि की निम्न बातें प्रणिधान के योग्य है। व्याकरण में लोक प्रभाराय सर्वोच्च है-ऐसा जानना चाहिए।

(१) लोक और व्याकरण के विषय मे भाष्य में एक उक्ति है- 'नच यथा लोके तथा व्याकरणे' (१।१।१) अर्थात लोक मे सार्थक और निरर्थक दो प्रकार

के वाक्य प्रयुक्त होते हैं, पर व्याकरण में एक भी वचन निरर्थक नहीं है। यद्यपि लोक शब्दार्थ व्यवस्था में प्रमाण है, तथापि यह नहीं है कि लोक में भ्रम नहीं होता, परन्तु व्याकरणशास्त्र में भ्रम होना सभव नहीं है। जैसा भाष्यकार ने अन्यत्र कहा है- 'दृष्ट विप्रतिकरश्च दृश्यते लोके' (१।४।२१) अर्थात् लोक में भ्रम से भी शब्द व्यवहार होता रहता है, जैसे 'अक्षीणि मे सुकुमाराणि' (मेरी बहुत आखें सुकुमार हैं) यद्यपि आख दो ही होती हैं, तथापि बहुवचन का प्रयोग किया गया है, इत्यादि।

शब्द प्रयोग सम्बन्धी अन्य एक लोक प्रमाण भी भाष्यकार ने दिया है, यथा- 'एव हि दृश्यते लोके अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुण सन्देहे च नपुसकलिंग प्रयुज्यते' (१।२।६९) अर्थात् अर्थ यदि अनिर्ज्ञात हो, या गुण में सन्देह हो तो नपुसकलिंग का प्रयोग किया जाता है। भाष्यकार ने उदाहरण दिया है "किं जातम् इत्युच्यते, द्वय चैव हि जायते, स्त्री वा पुमान वा तथा विदूरे अव्यक्तरूप दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति महिषी रूपमिव, ब्राह्मणी रूपमिव"। अन्यत्र इस प्रकार अन्य एक लौकिक शब्द व्यवहार का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है- 'अनिर्ज्ञातेऽर्थे बहुवचन प्रयुज्यते' अर्थात् जब सख्या निश्चित रूप से नहीं ज्ञात होती, तब लोक में बहुवचन का प्रयोग किया जाता है।

यद्यपि शब्दार्थ सबन्ध लोकाश्रित है, तथापि प्राधान्याप्राधान्य के विषय-लोक में एकतरह का ही प्राधान्य है, जैसा भाष्यकार ने कहा है-'लोके अर्थकृत प्राधान्यम' (३।१।१)। लोक में शब्द की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता है-ऐसी प्रसिद्धि इस शास्त्र में है।

मेवाड़ के आघाट दुर्ग में सं० १३१७ में चित्रित ताड़पत्रीय जैन प्रति

(ले० अगरचन्द नाहटा)

शोध पत्रिका के गत अंक में मेवाड़ मे १५ वीं शती की चित्रित 'सुपा सनह चरियं' की प्रति की लेखन पुष्पिकादि का परिचय दिया गया है। अभी २ उसमें भी ५० वर्ष प्राचीन एक ताड़ पत्रीय सचित्र प्रति का परिचय पढ़ने में आया, जो मेवाड़ के आघाट दुर्ग मे सं० १३१७ मे लिखी व चित्रित की गई है। यह प्रति जैन ग्रन्थ "सावग्ग पडिक्क मण चूएणी की है और अमेरिका वर्ती वास्टन के म्युजियम के फाइन आर्ट विभाग मे पहुंच गई है। इसमें चित्रो की संख्या ६ है। जिनमें से एक सरस्वती का है। दूसरों मे दो जैन साधु बैठे हुए दिखाये गये हैं। ये दोनों चित्र तो एक ही पत्र में हैं। इस पत्र का हूबहू रंगीन ब्लाक डॉ० ब्राउन के W. Narnar Brown the story of Kalka ग्रन्थ के प्लेट नं० २ में चित्र नं० ५-६ के रूप में सन् १९३३ में प्रकाशित है। डॉ० ब्राउन के उल्लेखानुसार इतः पूर्व थे। चित्रकला मर्मज्ञ स्व० आनंद कुमार स्वामी के अमेरिका से फिलाडे लफीआ से सन् १९३० में प्रकाशित Eestera Art (वो० २ के पृ० २३६ से २४०) पत्र के वार्षिक अंक में छप चुके थे। संभवतः उसमें छः चित्र छपे हों। श्री साराभाई नवाव ने सन १९३६ के जुलाई के जैन सत्य प्रकाश के अक मे इस प्रति के सरस्वती चित्रका परिचय देते हुए प्रशस्ति इस प्रकार दी है। "संवत् १३१७ वर्षे माह सुदि १४ आदित्य दिने श्रीमदाघाट दुर्गे महाराजाधिराज परमेश्वर परम भट्टारक उमापति वर लब्ध प्रौढ़ प्रताप समलंकृत श्री तेजसिंह देव कल्याण विजय राज्ये तत्पाद पद्मोपजीविनि महामात्य श्री समुद्धरे मुद्रा व्यापारान् परिपंथैयति श्रीमदाघाट वास्तव्य पं० रामचंद्र शिष्येण कमल चन्द्रेण पुस्तिका व्यलेखि।

"सारा भाई ने लिखा है कि" तेरमा सेका मा मेवाड नी स्त्रियों केवो पहर वेश पहरवीं हशे आ चित्रो आपे छे। इस वक्तव्य से इन चित्रो का महत्व भली भाति सिद्ध है।

अब उपर्युक्त कालक कथा में जो अग्रेजी में परिचय दिया हुआ है उसका अनुवाद यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है –

चित्र म०५ साधु और शिष्य सावग पडिक्कमणसुत्त चूरणी (जो कि आज कल म्युजियम ऑफ फाइनल आर्टस् बोस्टन में है) के ताडपत्रीय हस्त लेख के दाहिनी ओर के फोलिओं दो मे। यह इसके भी कुछ समय पूर्व सन् १६३० में कुमार स्वामी द्वारा "इस्टर्न आर्ट" नामक पत्र अक २ पृष्ठ २३६–२४० में सफेद और काले रंगों में चित्र प्रकाशित किया गया था।

उसमें बायीं ओर शिल्प विद्या सम्बन्धी बैठने की स्थिति में दो साधु सूक्ष्म चित्र में बैठे हुए दिखाये गये हैं। उनमें से एक साधु बडे साधुओं के बैठने वाली जगह के समान ही जगह पर बैठे हैं और दूसरे साधु को उपदेश दे रहे हैं। वह छोटा साधु गद्दी पर नीचे बैठा हुआ दिखाया गया है और इस कारण वह शिष्य प्रतीत होता है। बड़े साधु के दाहिने हाथ में चँवर है और उसके बायें हाथ में मुँह पर लगाने का कपड़ा है। छोटे साधु के हाथों में एक हस्त लिखित ग्रन्थ है, जिसे शायद बडा साधु उसे समझा रहा है। उन दोनों साधुओं के बीच में श्वेताम्बरों द्वारा प्रयुक्त बैठकी थी जो कि अनुपस्थित गुरु (आध्यात्मिक गुरु) का प्रतिनिधित्व करने वाला चिन्ह है के आकार की और कोई वस्तु है। यह बैठकी एक साधु के लिये उस समय बहुत ही आवश्यक है जब कि वह अपने गुरु की अनुपस्थिति में ध्यान मग्न स्थिति में या धर्मोपदेश की स्थिति में होता है। छोटा साधु हस्त लिखित ग्रथ का लेखक माना जा सकता है और बडा साधु उसका गुरु। बड़े साधु का आसन बड़े जैन साधुओं के बैठने के लिये प्रयुक्त आदर्श आवर्त सिंहासन का पटाये हुए रूप के समान प्रतीत होता है। जैसा कि चित्र स० १७ और १८ आदि में चित्रित है। पीछे की ओर लगा हुआ तख्ता आवर्त का अवशेष भाग है।

चित्र ६ तास्रपत्रीशी। चित्र ५ के अनुरूप ही हस्तलिखित ग्रन्थ के दाहिनी ओर के फोलियो से था।

दाहिनी ओर शिल्प कला सम्बन्धी बैठने की स्थिति में सरस्वतीदेवी चित्रित की गई है (मिलान करिये चित्र २) वह देवी वीरासन की स्थिति में बैठी चित्रित की गई है। वह एक कंचुकी पहने हुए है जो कि सामने से खुली हुई है। उसके पास एक धोती (अधोवस्त्र) और एक गुलबंध पहनने को है उसके ऊपर वाले दाहिने हाथ में एक पुस्तक है। ऊपर के बायें हाथ में कमल का फूल लिये हुए है और वह अपने नीचे के दोनों हाथों में वीणा लिये हुए चित्रित की गई है।

राजस्थान में इतिहास की प्रचुर सामग्री

(लेखक— श्री नाथूलाल भागीरथ व्यास, साहित्य संस्थान,
राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर)

पुरातत्वानुसंधान का कार्य आरम्भ होने के पूर्व इतिहास रचना का साधन ख्यातें, काव्य और जन:श्रुतियाँ ही थी. इस कारण से राजस्थान का इतिहास जैसा चाहिये, निर्माण करने का प्रयत्न नहीं हुआ और बहुत सी भूलें रह गई है। सबसे पूर्व कर्नल टॉड ने अंग्रेजी भाषा में राजस्थान का इतिहास निर्माण करने का यत्न किया, किन्तु उस समय शोध का कार्य आरम्भ नहीं हुआ था, जिससे कई स्थानों पर भूलें रह गई हैं, तथापि यह स्पष्ट है कि उस मनस्वी ने राजस्थान के इतिहास की रचना में ऐसी सामग्री खोज निकाली, जो अज्ञात थी और बहुत कम लोग ही उसको जानते थे। सैंकड़ों शिलालेख, दानपत्र, राजकीय पत्रादि, काव्य की संस्कृत तथा हिन्दी भाषा की पुस्तकें, फारसी भाषा में लिखी हुई पुस्तकें आदि को अवलोकन कर उक्त विद्वान ने राजस्थान के इतिहास की एक प्रकार से रूपरेखा स्थिर करदी, जो बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। तदनन्तर महामहोपाध्याय स्वर्गीय कविराजा श्यामलदास, स्वर्गीय डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा आदि ने कर्नल टॉड का पथ प्रदर्शन और अनुकरण कर शोध के कार्य को आगे बढाया

राजस्थान के इतिहास को सही रूप में जनता के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया, जो वैधानिक रूप लिये हुए हैं। इस पर भी अभी राजस्थान में ऐसी बहुतसी इतिहास की प्राचीन सामग्री विद्यमान है, जिसको प्रयोग में नहीं लिया गया है और वह एक प्रकार से छिपी हुई है।

यह सामग्री अधिकाशत बिखरे हुए रूप में है और वह शिलालेख, प्रशस्तिया दानपत्र, सिक्के, पट्टे परवाने, सामान्य पत्र व्यवहार, सस्कृत भाषा की पुस्तकें तथा फारसी भाषा के फरमान, निशान, सुरहें, दिनचर्या, बहिया आदि रूप में मिलती है। वृहत् राजस्थान के निर्माण के पूर्व राज्यों के सग्रहालयों (दफ्तर खानों) सम्भ्रान्त व्यक्तियों के गृहों आदि में भी बहुत कुछ सामग्री रखी हुई है जिसको एकत्र करना या अवलोकन करना सुलभ कार्य नहीं है। सामान्य व्यक्तियों के यहाँ भी कभी-कभी यह सामग्री मिल जाती है। कितने ही देव मन्दिर और प्राचीन स्थान ऐसे हैं, जहाँ लेखादि लगे हुए हैं और उनको अवलोकन कर अनुकृतियाँ तथा अक्षरान्तर तैयार करने का श्रम भी नहीं किया गया है। ब्राह्मणों के यहाँ कभी-कभी पुराने दानपत्र, पुस्तकें आदि मिल जाते है। कभी-कभी जमीन, दीवारों आदि से भी इतिहास की सामग्री प्राप्त हो जाती है। वस्तुत इतिहास की सामग्री प्राप्ति का राजस्थान मे ठीक-ठीक दिशा में कोई भी उद्योग नहीं किया गया है, जिससे बहुत सी सामग्री नष्ट होती जाती है।

उपरोक्त प्रकार की इतिहास की सामग्री किसी ऐसे अश की पुष्टि नहीं करता, जो किसी जाति विशेष अथवा व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखती है। यह अन भारतीय राष्ट्र के सर्वांङ्गपूर्ण इतिहास, समाजविज्ञान, साहित्य, शिल्पकला, शासन प्रणाली, राजवश, संस्कृति, सभ्यता आदि पर प्रकाश डालती है और बड़ी उपयोगी है।

पुरातत्वानुसन्धान की तरफ रुचि होने के फलस्वरूप इस लेख के लेखक को इतिहास की इस प्रकार की कोई बहुत सामग्री देखने का अवसर मिला है। एवं यथावसर उनकी प्रति लिपियां भी की गई हैं। राजस्थान के भावी इतिहास वेत्ताओं को इस दिशा में कुछ सुविधा हो, इस दृष्टि से कुछ प्रकाशित सामग्री को पाठकों के सामने रखी जाती है-

१ मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा पद्मसिंह का दानपत्र 1

(पं० १) ॐ ॥ स्वस्ति श्री सं० १२०।५१ वर्षे महाराजाधिराज

(पं० २) श्री पदमस्यंहदेव: मंत्री जगस्यंह वर्त्तमान चाह-

(पं० ३) आण रा० वाहड़सुत रा० मोकजन्य सकम राज्ये

(पं० ४) चैत्रसुदि पौर्णिमास्यां: आराधार सू (सु)

(पं० ५) तसि (शि) व गुणस्य हस्तेउदक पूर्वकं । शविलश्भू

(पं० ६) स्यांकर्दस्वाल ग्रामे गाजण रहंट मध्ये वृत्तिसं

(पं० ७) जूक्ता प्रदत्त: भाह: काल्हण शा (सा) धि: वणिक् काल-

---

1 यह दानपत्र (ताम्रपत्र) ई० स० १९४८ (वि० सं० २००५) में श्री लेहरलाल छोटा पालीवाल, लेखक के पास अवलोकनार्थ लाया था, जिसको उसही समय पढ कर (प्रतिलिपि) अक्षरान्तर तथा फोटो तैयार कियागया, जो साहित्य संस्थान राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर के संग्रहालय में विद्यमान हैं। उपर्युक्त ताम्रपत्र एक छोटे तांबे के टुकड़े पर खुदा हुआ है और उसके दोनों तरफ के नीचे के कौने टूटे हुए हैं, जिससे अन्त की तीन पंक्तियों के कुछ अक्षर नष्ट होगये हैं। ऊपर के भाग में सिरे पर बीच में एक गोलाकार छेद है: जो दूसरे ताम्रपत्र को जोडने के निमित्त कड़ी लगाने के लिये हो। किन्तु उस समय कडी नहीं थी और उस ही परिमाण का एक वि० सं० १३१६ (ई० स० १२५९) का राजा तेजसिंह (गुहिलवंशी) का दानपत्र (ताम्रपत्र) भी उसके साथ था, जो आगे उल्लिखित किया जायगा। भाषा, शैली और लिपि आदि से यह दानपत्र प्रामाणिक ज्ञात होता है और इससे गुहिल वंशी राजा पद्मसिंह का राज्य काल सुनिश्चित् हो जाता है, जो अब तक अस्पष्ट था। उस (पद्मसिंह) का मेवाड़ के भोमट प्रदेश के नरसिंहपुर गोत्र से वलकलेश्वर शिवालय के सम्बन्ध का एक शिलालेख मिल गया है, परन्तु वह त्रुटित है और उसका सम्वत् मिति का महत्वपूर्ण अंश तथा राजा का नाम नष्ट हो गया है, जिससे अधिक कुछ प्रकाश नहीं पड़ता; किन्तु आगे जाकर उसमें पद्मसिंह का नाम आ गया है, इसीलिये कह सकते है कि इस दानपत्र का सम्बन्ध पद्मसिंह से हो।

उपरोक्त वि० सं० १२५१ का दान पत्र साइज "६×८" इंचों में है और उसमें दिया हुआ सम्वत् १२५१ चैत्रादि नहीं, आषाढादि या अन्य श्रावण, भाद्रो अथवा कार्तिकमास से प्रारंभ होने वाला हो, जिससे चैत्रादि वि० सं० १२५२ इस ताम्रपत्र का सम्वत् होगा। एवं उस वर्ष चैत्रसुदि १५ को सोमवार भी था।

(प० ८) उ (काल्ह) शा (सा) ढि मेहरू राम्वणु शा (सा) ढि. सोम (ल) ऊकिय
(प० ६) ल्हणु शा (सा) ढि ऽश्वमेघ (स) हस्राणि वाजपेय सती (शता)-
(प०१०) [निच गवा कोटि] प्रदानेन भूमि हर्तानि शुध्यति
(प०११) पा] लयति (ऽ) ह पुन्य पवित्रता
(प०१२) स्य दोष ऽस्ति सु (शु) भ

२ नरसिंहपुर (भोमट, जूडा-मेरपुर) गाव से प्राप्त गुहिलवंशी राजा पद्मसिंह का लेख

(प० १) ओं० स द्दि ८ सोमे महा-
(प० २) राज हदेव विजय
(प० ३) राज्य कलातगराव
(प० ४) भेत्र प्रभो श्री वल्क-
(प० ५) लेश्वर रा मम
(प० ६) ये किंपि व विल धा
(प० ७) नकाना प्रति तेल प० १ । तिलवटिना
(प० ८) टुक १ वतुर्थं वानकम्य कोरापत
(प० ६) पद्य मे तन्य देवस्य प्रदत्त । एतेन्न मु
(प० १०) प्ये (न्ये) न महाराजा श्री पद्मसिंह देवो
(प० ११) गृह्यति ॥ लिखित भट० साजण मुत
(प० १२) मलयमीह्देन अच्युत श्री वल्कल-
(प० १३) श्वर देवस्य उमाभ्या मस्के नमस्कार।
(प० १४) सदा ॥ सु (शु) भ भवतु ॥
(प० १५)

2 इस लेख की प्रतिकृति (छायाप्रति) राजस्थान पुरातत्व संग्रहालय (आर्कियोलोजी विभाग) में भी है और साहित्य संस्थान में भी। इसका सम्वत्, तिथि, का महत्त्वपूर्ण अंश तथा राजा का नाम नष्ट हो गया है, जिससे उसका ठीक-ठीक महत्व अंकित नहीं किया जा सकता है, परन्तु इसमें महाराज पद्मसिंह का नामोल्लेख होने से, वह पद्मसिंह का उससे सम्बन्ध होना भी प्रकट करता है। साथ ही इससे शैव मंदिरों पर होने वाले [illegible] पर भी उपर्युक्त [illegible] पुष्ट प्रकाश पड़ता है।

(प० १६)..........................

(प० १७)........... ....

(प० १८)..........................

३ खमणोर से प्राप्त महाराजकुमार पृथ्वीसिंह का शिलालेख[3]

(प० १) ॥ ॐ सम्वत् १३०७

(प० २) वर्षे संतावलि (स)

(प० ३) मा वासित श्री क

(प० ४) टके महाराज

(प० ५) कुमार श्री पिथि

(प० ५) म्वसीह देवेन पि

(प० ७) तामात्रा: श्रेयार्थ

(प० ८) वैशाख शुदि ३ अ

(प० ९) त्तय त्रतीयापर्व्वे

(प० १०) ... ...

(प० ११) ... ... पूजा ने

(प० १२) वे द्यर्थे ... ...

(प० १३) ... पुर माडव्या ... ..

(प० १४) ... ...

(प० १५) ... दत्त । अन्य ... ...

(प० १६) ... ...

(प० १७) .. ..

(प० १८) ... ...

---

३ यह शिलालेख एक स्तम्भ पर खुदा हुआ खमणोर गांव के चारभुजा के मन्दिर की चहार दिवारी के पास दर्वाजे के पास दिवार के सहारे भीतर की तरफ रखा हुआ था, जिसको मैंने वि० सं० १९८६, १९८७ और १९८८ में देखा था। ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी होने के कारण वि० सं० १९८८ में मैंने उसे पढने का यत्न किया और उसकी छाप भी तैयार कर ली; जो साहित्य संस्थान में सुरक्षित है। उसकी एक छाप स्वर्गीय डा० गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा को देने पर उन्होंने

४ मेवाड़ के गुहिलवंशी नरेश महाराजाधिराज तेजसिंह का कदमाल गांव से-ताम्रपत्र 4

(प० १) ॐ ॥ स्वस्ति श्री १३०१६ वर्षे महाराजाधिराज

(प० २) श्री तेजस्य (घ) देव रा० ललतपालस्य मंत्रि रामेश्वरस्य

(प० ३) वर्त्तमाने। चाहमाण रा० शीहास् (सु) त। रा०चाद सक-

(प० ४) ल राज्ये कदंम्वालग्राम स्थिते ब्राह्मण सिवगुण

(प० ५) सुत तीकुम्व हस्ते उदक पूर्वक। वैशाप (ख) वदि०सोमे

(प० ६) सूर्य पर्वेऽ रहठ ग्राजण मध्ये शविलर भूम्या प्रदत्त

(प० ७) साह विजीयऊशा (सा) क्षि। ब्राह्मण गोलउ नालउ शा (सा) क्षि म०

(प० ८) त्रि चादउ साक्षि वणिक वइरउ वील्लणू चाहू वाघ

(प० ६) रणसिंह साक्षि मेहरउ वइजउ चाव' मोरउ वनेउ धा

(पं० १०) श्रा काथल ऽस्य (श्व) मेघ सहश्राणि वाजपेय स(श)तानिच

(प० ११) गवा कोटि प्रदानेन भूमि हरता न सुध्यति ऽस्मत ग्रसे (शे)

(प० १२) समकेने ऽन्येराजा भविष्यति तस्या हकरे लग्नं न लो

(प० १३) पममासन ऽस्या सासन प्रतिपालयति। • —

इसकी सूचना राजपूताना म्युजियम वर्किङ्ग रिपोर्ट ई० स० १६३२ ३३ (१) में प्रकाशित कर उपर्युक्त महाराजकुमार पृथ्वीसिंह को मेवाड़ के गुहिलवंशी महाराना जैत्रसिंह का पुत्र होने का उल्लेख किया है। परन्तु इसकी पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती कि जैत्रसिंह के पृथ्वीसिंह नामक कोई राजकुमार था। मेरे अनुमान से यह पृथ्वीसिंह, गुहिलवंश की सीसोदा शाखा के राणा भुवनपाल का पुत्र हो तो आश्चर्य नहीं, जिसका समय इसके आस पास रहा होता है।

4 यह दानपत्र ई०स० १६४८ में श्री नेहरूपाल छोटा पालीवाल इस लेख के लेखक के पास उपर्युक्त वि० सं० १२५१ के दानपत्र के साथ पढ़कर अक्षरान्तर करने के लिए लाया था, जिसको उस ही समय पढ़ कर अक्षरान्तर कर लिया गया एवं अनुकृति (फोटो) भी लिया लिया गया। इस दानपत्र (ताम्रपत्र) के अंत का एक कोना कुछ टूट गया है, जिससे अंतिम पंक्ति का एक अक्षर नष्ट हो गया है। ऊपर के भाग में सम्वत् १३ और १६ के बीच एक छेद बना हुआ है, जो इस ताम्रपत्र को जोड़कर कड़ी लगाने के लिए है, किन्तु कड़ी उसके साथ नहीं थी।

५ मेवाड़ के गोगूंदा नामक गांव के शीतलादेवी के मन्दिर के छबने का लेख 5

॥ स्वस्ति श्री राणा पे (खे) तलदे राज्ये संवत १४२३ वर्षे आषाढ़वदि १३ भौमे अश्विनि नक्षत्रे शोभन योगे ठ० सातल सुत ठ० डाला जीर्णोद्धार प्रासाद

उपरोक्त दान पत्र तांबे के छोटे टुकडे पर खुदा हुआ है, जिसका परिमाण "६×८" इंच है। इस दानपत्र की चद्दर देशी है। अक्षरों की बनावट (लिपि) लेख शैली, भाषा आदि से यह दानपत्र प्राचीन प्रतीत होता है। इस दानपत्र का कर्त्ता महाराजा तेजसिंह, मेवाड़ के गुहिल वंशी महाराजाधिराज जैत्रसिंह का पुत्र और पद्मसिंह का पौत्र था। तेजसिंह के समय के कुछ लेखादि मिल गये हैं, परंतु अद्यावधि कोई दान पत्र नहीं मिला और यही उसका प्राचीन शोध से मिलने वाला प्रथम दान पत्र है, जिससे उसका समय काल स्थिर करने में पूरी सहायता मिलती है, तथा उससे उस समय की शासन परम्परा, भाषा, संस्कृति अदि कई बातों पर प्रकाश पडता है। उक्त दान पत्र में दिया हुआ सम्वत् चैत्रादि न होकर अषाढादि अथवा श्रावणादि हो सकता है क्यों कि वि० सं० १३१६ वैशाखविदि ३० को सोमवार और सूर्यग्रहण न होकर वि० सं० १३१७ में वैशाखविदि ३० को सोमवार तथा सूर्यग्रहण था। अस्तुः इस दान पत्र का सम्वत् १३१७ चैत्रादि मानना चाहिये।

5 यह लेख उपरोक्त गोगूंदा गाव के शीतलादेवी के मन्दिर के छबने पर अङ्कित है। वह पूर्व किसी विष्णु मन्दिर से सम्बन्ध रखता है - उससे मेवाड के गुहिलवंश की राणा शाखा (सीसोदिया) के राणा चैत्रसिंह, जिसका लौकिक नाम खेतसिंह, खेता या खेतपाल था, राज्य समय स्थिर होजाता है। वह (चैत्रसिंह) सीसोदा गाव से विकसित सीसोदिया शाखा के महाराणा हम्मीरसिंह का पुत्र था। हम्मीरसिंह की मृत्यु वि० सं० १४२१ (ई० स १३६४) मे हुई, तब वह राजगद्दी पर बैठा। उसकी राजधानी चित्तौड़गढ़ थी, जो उसके पिता हम्मीरसिंह ने दिल्ली के खिलजी सुलतानों तथा तुगलक सुलतानों के अधीन मालदेव सोनगर के उत्तराधिकारियों का अधिकार उठा कर स्थिर की थी। चैत्रसिंह का देहान्त वि० सं० १४३६ (ई० स० १३८२) में हुआ और उसका पुत्र लक्षसिंह (लाखा) था।

यह लेख बहुधा अज्ञात ही रहा। वीरविनोद में कविराजा श्यामलदासजी ने इसका कुछ उल्लेख नहीं किया है; परन्तु डॉ० गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा ने उक्त लेख का अपने राजपूताना के इतिहास मे चैत्रसिंह के प्रसंग में उल्लेख किया है।

विष्णु मूर्त्ति प्रतिष्ठित ।। —क्रमशः

वीरविनोद का निर्माण होने के समय मेवाड़ से प्राप्त पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री, लेख आदि पढ़ने का कार्य स्वर्गीय पं० रामप्रतापजी शास्त्री (गुर्जरगौड़ ब्राह्मण राजकीय ज्योतिर्विद) किया करते थे। ग्यारहवीं शताब्दी की लिपि का उदयपुर के सर्वेश्वर के मन्दिर का छबने का लेख उस समय तक किसी ने नहीं पढ़ा था, जिसके लिए तत्कालीन मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह की आज्ञा से विशेष आज्ञा पत्र प्रकाशित किया गया और जो कोई उसको पढ़ कर अक्षरांतर करे, पुरस्कार देने की घोषणा की गई।' स्व० पंडितजी ने उसको थोड़े ही समय में पढ़ कर अक्षरांतर तैयार कर लिया। इसके पीछे मेवाड़ से उस समय जो लेखादि मिले, उन सब को बहुधा उन्होंने ही पढ़े और उनका अक्षरांतर भी तैयार कर लिया, जिनमें कई वीरविनोद में छप चुके हैं प्रोफेसर पी० पेटर्सन, डॉ० सी० सी० बेंडाल, डॉ० गुस्टावीली बोन (फ्रेंच) काउन्ट एन्जीलोगोड़ी ज्युबरजेटी (इटालियन) प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता आदि तत्समय के विदेशी विद्वान, जो उस समय उदयपुर और चित्तौड़ में आये, उनको पण्डितजी रामप्रतापजी ही साथ रह कर प्राचीन स्थानों तथा शिलालेखों आदि का अवलोकन कराने के लिए राज्य की तरफ से भेजे गये थे। इन विदेशी विद्वानों का उक्त पंडितजी से पूरा सम्पर्क होगया था और वे इन की विद्वत्ता पर मुग्ध थे। यद्यपि पंडितजी अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता न थे, तथापि उनके साथ उनका पत्र व्यवहार इंग्लैंड आदि में बराबर होता रहा और उभय ओर से संस्कृत भाषा में ही (यह पत्र व्यवहार अब भी श्री पंडितजी के सुयोग्य पुत्र पं० चन्द्रकान्तजी ज्योतिषी के पास विद्यमान हैं। दुर्भाग्य से इसके कुछ ही समय बाद पंडितजी ऐसी व्याधि (मस्तिष्क सम्बन्धी रोग) में ग्रस्त होगये, जिससे उनके द्वारा पुरातत्व विषयक होने वाला कार्य प्रकाशन का उन्हें कुछ भी यश नहीं मिला। स्व० रामप्रतापजी के बाद डॉ० ओझा ने उनके काम को ग्रहण कर मेवाड़ में बहुत से प्राचीन लेखों को खोज निकाले, जिनका इतिहास साक्षी है। उपर्युक्त लेख का अक्षरांतर मुझे श्री चन्द्रकान्तजी के अनुग्रह से ही मिला है, जिसके लिए मैं उनका आभार प्रदर्शित करता हूँ।

सम्पादकीय—

राजस्थानी भाषा पर स्वर्गीय श्री मेघाणीजी का मत

स्वर्गीय श्रीझवेरचन्द मेघाणी ने सन् १९४३ के जुलाई मास में श्रीठक्कर-वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला के अन्तर्गत बम्बई विश्व विद्यालय की ओर से लोक-साहित्य-विषयक पाँच महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये थे। 'कुळ्य भाषा ना साहित्य-सीमाड़ा' शीर्षक अपने प्रथम व्याख्यान में राजस्थानी के सम्बन्ध में प्रसंगवश बोलते हुए आपने कहा था—"आपणी मातृभाषा राजस्थानी. मेडतानी मीरां ऐमां पदो रचती ने गाती, ओ पदो ने सौराष्ट्र ना छेल्लुका सीमाड़ा सुधीनां मानवीओ गांतां ने पोतानां करी लेता. चारण नो दुहो राजस्थान नी कोई पण सीम मां थी राजस्थानी भाषा मां काया धरतो ने काठियावाडनां नेशडां मां जरा तरा लेबास बदली ने घरघराऊ बनी जतो. नरसैयो गिरनार नी तलेटी मां प्रभु पदो रचतो ओ पदो यात्रिको ना कंठ मां मालो नाखी ने जोधपुर उदेपुर चाल्यां जतां।

ओ जमाना नो पण परदो ऊचकी ने आगल पेसो, अने तमारी नजरे कच्छा-काठियावाड़ थी प्रयाग पर्यंत ना विस्तृत भूखण्ड पर पथराई रहेली एक ज भाषा प्रकट थशे. कबीरे ओ भाषा मां गायु ने सौराष्ट्रे ओ कबीर-गायु। शब्देशब्द झील्यु. दादुओ असदावादनी पडोशमां कोईक साबर-तीरे प्रभु ने आराध्यो, ने ओना आराधन-शब्दो ने मथुरा मां कोई चोबानी धर्मशाला मा आशरो लीधा विना ज सर्व ने कंठे हैडे स्थान सांपडयु. ओवी व्यापक कथ्य वाणी नु नाम जूनो राजस्थानी. ओने खोले, थी छूटी पडेली पुत्रीओ ज ते पछी व्रजभाषा, गुजराती अने आधुनिक राजस्थानी ओवां नामे स्वतंत्र वनी, परणी पपटी ने नवा सासरवासे चाली गई।

पण ओ जूनी राजस्थानी नु ये पियर कोण ? जेने आजे आपणा विद्वानों ओ जूनी गुजराती, जूनीं हिन्दी अथवा जूनी राजस्थानी ओवां नामो आये छे ते

विपरीत रामायण सम्बन्धी कथानक तो बहुत ही कम लोक प्रिय रहे। गुप्तकाल से पूर्व तो राम या रामायण सम्बन्धी सन्दर्भ मूर्तिकला का विषय न बन सके। कृष्णलीला सम्बन्धी निम्न मूर्तियाँ तथा देवालयों के भग्नावशेष प्रस्तुत किये जा सकते हैं:—

(१) जोधपुर से ३६ मील दूर "ओसियाँ" (प्राचीन उपकेश, ऊकेश) के सुप्रसिद्ध देवालयों के भग्नावशेष कृष्णलीला सम्बन्धी विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं। एतद्विषयक सामग्री अप्रकाशित ही है[१] हरिहर देवालयों के पार्श्व भागों पर बाहर गोवर्धनधारी कृष्ण साधारण मुद्रा में दिखाये गये है। इसके अतिरिक्त सचिया माता के मन्दिर के पास छोटे से देवालय के बाहर छत में गोपगोपीजन भी पर्वत धारण करने में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। "संगच्छध्वं संवदध्वं..." तथा सहवीर्यं करवाव है .." आदि वैदिक सूक्तियाँ इस दृश्य द्वारा चरितार्थ हो उठती है। आज की महाविप्लवकारी वेला में व्रजवासी वर्ग की अद्वितीय सहयोग की यह सात्विकभावना प्रत्येक भारतीय को कर्तव्य पथ की ओर प्रेरित करने में समर्थ हो सकती है। इस दृष्टिकोण से उक्त दृश्य मण्डोर स्तम्भ वाले से कहीं उत्तम है। ओसियाँ के हरिहर देवालय के एक स्थान पर कृष्ण ने वृषभ को इतनी जोरसे दबाया है कि उसके आगे के दोनों घुटने भूमि पर टिक गये हैं तथा पिछली टांगें बिल्कुल भी नहीं झुकी है। कृष्ण द्वारा वशीभूत हो जाने पर वृषभ की पूँछ का तन जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार ओसियाँ का तक्षणकार भाव प्रदर्शन में अधिक सफल रहा है। साथ ही केशीवध, पूतनावध, कालीयदमन ...आदि सन्दर्भ भी बड़ी कुशलता से उत्कीर्ण किये गये हैं।

ओसियाँ ग्राम से बाहर एक हरिहर पञ्चायतन देवालय के एक छोटे से देवालय (गर्भगृह के बाहर) में हलधर बलराम तथा उनकी प्रेयसी रेवती भी प्रदर्शित हैं। उक्त मूर्ति में बलराम तीन हाथों में तो प्याला, हल तथा गदा लिये है

---

१ इसका किञ्चिन्मात्र उल्लेख लेखक ने प्रजासेवक, जोधपुर, २ सितम्बर १९५३ के अङ्क में किया है। इन मन्दिरों में कुछ ही अध्ययन योग्य हैं अर्थात् ग्राम से बाहर ३-हरिहर मन्दिर, रावलों के पास सूर्य मन्दिर, सचियामाता का विशाल मन्दिर।

तथा चौथे हाथ से स्व प्रेयसी रेवती के वक्ष स्थल को स्पर्श कर रहे हैं। तक्षणकार ने बलराम के सिर पर ५ फणों वाले सर्प का वितान भी दिखाया है। ग्राम के अन्दर तथा रावलों के पास स्थित सूर्य मन्दिर के बाहर एक ताक में अकेले हलधर बलराम खड़े दिखाये गये हैं। मन्दिर के गर्भगृह के मुख्य द्वार पर नृत्य मुद्रा स्थित रमणियों के ठीक ऊपर एक ओर गरुड़ासीन कृष्ण तथा दूसरी ओर गरुड़ासीन हलधर बलराम उत्कीर्ण हैं। यहा चतुर्भुज कृष्ण के हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा पद्म हैं। दूसरी ओर तथैव मुद्रा में विराजमान बलराम हल, गदा तथा शङ्ख लिये हुए हैं। इस स्थान पर मूर्तिकला में सकर्षण वासुदेव को विष्णु का अवतार मान कर दिखाया गया है तथा यह तक्षण पञ्चरात्र विचारधारा के अनुरूप ही किया गया प्रतीत होता है। अन्यत्र यहीं के सचियामाता मन्दिर में योद्धाओं के ऊपर सकर्षण बलराम तथा वासुदेव-कृष्ण को प्रस्तुत किया गया है। सभामण्डप की छत पर सर्पफणों के मध्य वशी बजाते हुए पुरुष की ओर निहारती हुई तथा हाथ मे कमल लिये एक रमणी कृष्ण प्रेयसी राधा की ही ओर निर्देश करती है। किराडू[10] से प्राप्त तथा जोधपुर सग्रहालय में सुरक्षित एक पाषाण प्रतिमा मे भी वशी बजाते हुए पुरुष के समीपासीन रमणी सम्भवत राधा ही है। नाना नामक[11] स्थान के प्राचीन जैन मन्दिर के पास दीवार में इसी विषय का दृश्य प्रदर्शित किया गया प्रतीत होता है [देखिये चित्र न० २६३२ वैस्टर्न सर्कल]

(२) कामा (कामवन, भरतपुरराज्य) के कोटीश्वर महादेव में भी सम्भवत कृष्ण की गोष्ठ लीला का प्रदर्शन किया गया है [भण्डारकर, प्रो० रि०, १६१६ पृ० ६५]

(३) मण्डोर के स्तम्भ पर यशोदा के समीप लेटे हुए कृष्ण सम्बन्धी दृश्य की ओर सकेत किया ही जा चुका है। तद्विषयक काले पत्थर की एक प्रतिमा (३० इञ्च × १३ इन्च) अर्थूणा (बासवाड़ा राज्य) से प्राप्त हुई है तथा

---

१० जोधपुर डिविजन के अन्तर्गत प्राचीन "किराटकूप" नामक एक प्राचीन स्थान। यह जोधपुर बाड़मेर कराची रेलवे लाइन पर खडीन रेलवे स्टेशन से लगभग ४ मील दूर है।

११ मारवाड़ प्रदेशान्तर्गत।

राजपूताना म्यूज़ियम अजमेर में सुरक्षित है। यह मूर्ति १२ शता० ईसवी की प्रतीत होती है [तुलना हेतु देखिये तद्विषयक एक अन्य मूर्ति जो पठारि (मध्य-भारत) से मिली है-यह आरम्भिक युग की कलाकृति प्रतीत होती है ।]

(४) किराडू के सर्वज्ञात सोमेश्वर मन्दिर के प्रवेश द्वार के बाहर बायीं ओर कृष्ण लीला की चार झाकियाँ प्रदर्शित हैं[१२] अर्थात (दायीं ओर से बायीं ओर क्रमशः):—

(अ) कृष्ण के सामने एक पंक्ति में ३ गौएँ खड़ी हैं।

(ब) कृष्ण का वृषभरूप में आये हुए राक्षस के साथ युद्ध।

(ज) अश्वरूप केशी दैत्य का कृष्ण के साथ युद्ध।

(द) शकटभङ्ग-यहाँ गाडी उल्टी पड़ी है।

(य) पूतनावध-कृष्ण ने पूतना राक्षसी के स्तनों को इतने जोर से दबाया है कि असह्य पीड़ा के कारण राक्षसी के दोनो हाथ ऊपर उठ गये है। केकीन्द[१३] तथा ओसियाँ की कला द्वारा यही भाव समानरूपेण व्यक्त किया गया है।

उपर्युक्त मन्दिर के गर्भगृह के बाहर भी कुछ दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं अर्थात (दायीं ओर से क्रमशः बायीं ओर):-

(अ) कृष्ण द्वारा सहजरूप में ही वामहस्त पर गोवर्धन धारण।

(ब) कृष्ण तथा वृषभासुर युद्ध मे वृषभदैत्य की दोनों अगली टांगें कृष्ण के कन्धों तक पहुंच रही हैं। इसके विपरीत ओसियाँ की उपर्युक्त मूर्ति में कृष्ण ने बैल के सींगों को इतने जोर से नीचे दबाया है कि उसकी पूंछ स्वाभाविक रूप से तन सी गई है। किराडू का वृषभासुर अगली टांगें उठाये खड़ा है।

(ज) एक स्त्री मटका उठाये हुए सम्भवतः कोई गोपी ही है।

---

१२ इन सब दृश्यों को सर्वप्रथम प्रकाशित करने का श्रेय लेखक को ही है।

१३ वर्तमान् जसनगर; मेड़तानगर से १४ मील दूर तथा जोधपुर से ८७ मील। प्राचीन किस्किन्धा नगरी। देखिये मेरा लेख, केकिन्द का प्राचीन शिव मन्दिर, दैनिक लोकवाणी, जयपुर २६ नवम्बर १९५३.

(द) अन्दर एक कोने में पूर्व दिशा में मुख किये यशोदा माता कृष्ण को गोद में लिये बैठी है। कृष्ण लेटे २ दुग्ध पान कर रहे हैं। माता की वामभुजा कृष्ण के सिर के नीचे है तथा दक्षिण हस्त से स्तन को कृष्ण के मुख में दे रही है। मण्डोर के उपर्युक्त दृश्य में कृष्ण यशोदा के पास केवल लेटे हुए दिखाये गये हैं।

(य) कृष्ण के मामा कंस की कुमंत्रणा से प्रेषित विषयुक्त मिष्टान्न को खाने में कृष्ण तनिक भी संकोच नहीं कर रहे हैं। यहां पर कृष्ण खड़े २ एक तश्तरी से मोदकादि भक्षण में तल्लीन हैं।

(र) कृष्ण तथा कंस के मध्य द्वन्द्व युद्ध में कृष्ण ने कंस को नीचे पछाड़ मारा है।[१४]

५ केकीन्द के सुपरिचित नीलकंठ महादेव मन्दिर के सभामण्डप की छत के अन्दर की ओर कृष्ण लीला की कतिपय झाँकियाँ उपलब्ध हैं यथा—[१५]

(अ) अश्वरूप केशी के साथ कृष्ण का युद्ध। इस स्थल पर केशी किराडू के सोमेश्वर मन्दिर के दृश्य में प्रदर्शित दैत्य की तरह विकृत खड़ा हो गया है। कृष्ण ने अपनी बायीं टांग तान कर दाहिनी टांग को ऊपर उठा लिया है तथा वाम भुजा से केशी की गर्दन को बड़े जोर से दबाया है।

(ब) वृषभ रूप में प्राप्त दैत्य का संहार करने हेतु कृष्ण ने स्वकीय सव्यभुजा उठायी है। साथ ही दैत्य का मुख, अगली टांगें तथा गर्दन के पीछे के भाग उठे हुए हैं।

(स) पूतनावध—कंस द्वारा भेजी हुई पूतना राक्षसी के विषपूर्ण स्तनों को

---

१४ किराडू के इन सब दृश्यों का सचित्र विवरण लेखक द्वारा प्रजासेवक ३० सितम्बर १९६२ के अंक में दिया गया है। इसके अतिरिक्त देखिये मेरा लेख, शोध पत्रिका, भाग ८, अंक ३, "किराडू के प्राचीन मंदिर"॥

१५—इन सबको प्रकाशित करने का श्रेय लेखक को ही है।

कृष्ण ने राक्षसी की गोद में लेटे इतने जोर से दबाया है कि असह्य पीड़ा के कारण उसके दोनों हाथ ऊपर उठ गये हैं।

(द) माखन चोरी—इस दृश्य में दो स्त्रियाँ खड़ी हुई हैं तथा पास ही नीचे घुटनों के बल बैठे हुए कृष्ण (नवनीत चोर कला प्रवीण कृष्ण) मक्खन चुराने में लगे हैं।

(य) दो स्त्रियाँ अपनी २ गोद में शिशु लिये खड़ी हैं। समीप ही एक स्त्री स्थानकावस्था में दधिमन्थन कर रही है। ये सम्भवतः व्रजनारी वर्ग की दैनिक चर्या की ओर संकेत करती हैं।

(र) हाथ में लकड़ी लिये बालक को गोद में धारण किए एक वृद्ध पुरुष सम्भवतः नन्द बाबा ही हैं।

(ल) एक स्थान पर कई गौएँ खड़ी हैं तथा एक गऊ के नीचे एक बछड़ा दुग्धपान कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानों ये सब दृश्य व्रज प्रदेश के सूचक हों।

(व) बेमाता की प्रतिमा—नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर के सभामण्डप के समीप ही तथा गर्भगृह में प्रवेश करने के पूर्व बायीं ओर एक दीवार में २ फुट ६ इञ्च × २ फुट ३½ इञ्च आकार की एक पाषाण प्रतिमा विशेष रूपेण उल्लेखनीय है। इसे लोग बेमाता के नाम से सम्बोधित करते हैं तथा प्रतिमा की पूजा भी करते हैं। इस मूर्ति में द्विबाहु स्त्री गोद में एक शिशु को लिये बैठी है तथा अपना वामहस्त बच्चे के सिर के नीचे रक्खा है। डा० भण्डारकर- (प्रो० रि० १६११, पृ० ३६) का यह विचार है कि उक्त शिशुकरोदा प्रतिमा वास्तव में "कृष्ण करोदा यशोदा" की प्रतीत होती तथा प्रारम्भ में इसी देवालय के अन्दर प्रतिष्ठित रही होगी। इस देव भवन में कृष्ण-लीला सम्बन्धी इतनी झाँकियाँ प्रदर्शित कर कृष्णोपासना को अतीव महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कोई आश्चर्य नहीं कि प्राचीन काल में जनता कृष्ण की मूर्ति की ही पूजा करती रही हों।

(ग) उपर्युक्त मन्दिर के समीपवर्ती जैन देवालय के समक्ष तथा केकीन्द ग्राम के अन्दर बाजार में चौकोर कीर्तिस्तम्भों पर एक ओर गोवर्धन धर कृष्ण तथा शेष तीनों ओर अन्य देव गण का तक्षण किया गया है। इसी आशय के परिचायक स्तम्भ पार्श्वनाथ फलोदी (ब्राह्मणी मन्दिर के अन्दर), लुद्रवा (जैसलमेर से १२ मील दूर), अर्ना (जोधपुर से १२ मील दूर) आदि कई स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान के कलाकारों ने विष्णु देवता की अपेक्षा कृष्णावतार के प्रदर्शन को ही अतीव महत्वपूर्ण स्थान दिया है और वह भी गोवर्धनधारी कृष्ण को। राजस्थान की मूर्तिकला में गोवर्धनधर कृष्ण का प्रदर्शन मण्डोर, ओसियाँ, किराडू, तथा रगमहल आदि स्थानों से प्राप्त मूर्तियों द्वारा सुविदित ही है। बड़े आश्चर्य की बात है कि केकींद के नीलकण्ठमहादेव के मंदिर की छत में गोवर्धनधर कृष्ण सम्बन्धी एक भी सन्दर्भ नहीं दिखाई देता। पता नहीं तक्षण कार ने इतनी महत्वपूर्ण घटना को क्यों प्रदर्शित न किया? इस स्थिति में गोवर्धनधर कृष्ण की प्रतिमा का अभाव सर्वथा खटकता ही रहेगा।

(६) मारवाड़ प्रदेश के अन्तगत सादड़ी[१६] के सुप्रसिद्ध जगेश्वर मन्दिर (जिसे आजकल बारहदरी कहते हैं) की छत की ओर अभी तक विद्वानों तथा कलाविज्ञों का ध्यान नहीं गया है। इस स्थिति में तत्रोत्कीर्ण विष्णु, विष्णु के अवतार तथा कृष्णलीला सम्बन्धी दृश्यों का वर्णन करना प्रासगिक ही नहीं अपितु अत्यावश्यक ही है।[१७] विष्णु के अवतारों के बाहर कृष्णलीला की झाकियों ने छत की खुदाई के काम को और भी रोचक बना दिया है। इस प्रकार एक ओर ब्रजभूमि का प्रदर्शन किया गया है अर्थात् चार गौएँ खड़ी हैं जिनमें दो के नीचे

---

१६ देसूरी परगना। देसूरी से ८ मील तथा बाली से १० मील दूर।

१७ देखिये मेरा लेख "सादड़ी के ऐतिहासिक और प्राचीन देवालय," जनसत्ता, हिन्दी दैनिक, दिल्ली, दिसम्बर २७, १९५३, पृ० ८ ॥

बछड़े दुग्धपान कर रहे हैं। इससे आगे एक स्त्री बैठी हुई दधिमन्थन कर रही है। अन्त मे शिशु को लिये एक स्त्री सम्भवत: कृष्णकरोदा यशोदा ही है।...... दूसरी ओर कृष्ण के अपार शौर्य सम्बन्धी कुछ सन्दर्भ उत्कीर्ण हैं अर्थात् कृष्ण ने एक राक्षस को उलटा करके राक्षस के सिर पर अपना पैर रक्खा हुआ है तथा उसकी टांगें अपने हाथ में पकड़ रक्खी है। इससे आगे हलधर बलराम के समीप कृष्ण गजदैत्य के साथ युद्ध कर रहे है। इस दृश्य में हाथी के अगले पैर उठ गये हैं और सूँड भी। कृष्ण ने अपना वामचरण हाथी के अगले सव्यपाद पर रक्खा हुआ है। तदुपरान्त अन्तिम दृष्य में बलराम के समीप कृष्ण मल्लयुद्ध में प्रदर्शित किये गये है. कला की दृष्टि से जगेश्वर मन्दिर की यह छत राजस्थान की शिल्पकला की एक अनुपम देन है।

विष्णु के भिन्न २ अवतारों मे भी कृष्ण तथा बलराम दोनों को राजस्थान की मूर्तिकला मे पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ। ओसियाँ के चतुर्भुज कृष्ण तथा चतुर्भुज बलदेव का उल्लेख किया ही जा चुका है [१८] बलराम तो हलधर अवस्था मे पहचाने ही जाते हैं। सांभर से प्राप्त एक मध्यकालीन प्रतिमा में द्विबाहु बलराम के एक हाथ में प्याला है तथा दूसरे में हल [देखिये श्री दयाराम साहनीकृत साम्भर खतन-वृत्त, जयपुर पुरातत्त्व विभाग रिपोर्ट]। खेड़ (बालोतरा से ५ मील दूर, प्राचीन क्षीरपुर) के ओद, मेड़नानगर (महालक्ष्मी मन्दिर के बाहर) ....आदि कई स्थानो पर भी बलराम की मूर्तियों का तक्षण अत्यन्त भव्य है।

कृष्ण लीला की विविधानेक झाँकियों का राजस्थानी मूर्तिकला एवं शिलालेखो मे प्रदर्शन अतीव महत्वपूर्ण है। राजस्थान के कलाकार योगिराज श्री कृष्ण के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने में किसी प्रकार पीछे न रहे। इस दिशा में उनके अनेक सतत प्रयत्न सदैव साक्षी रूप मे उपस्थित रहेंगे। कालान्तर में तो कृष्ण भक्ति का धारा प्रवाह राजस्थानी चित्रकला में विशेष रूपेण दृष्टिगोचर होता है। भारतवर्ष के इस भूभाग में कृष्ण-भक्ति ने लोक-जीवन मे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया था जिसके लिये राजस्थानी कलाकरो की कृतियाँ सदैव स्तुत्य एवं वन्द्य रहेंगी।

---

१८. तुलना हेतु देखिये जर्नल इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट, कलकत्ता, १९४६, पृ० २६-७.

संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों की रचनापद्धति का विश्लेषण

[श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य, काशी]

राष्ट्रभाषा होने के कारण हिन्दी व्याकरण के विषय में आजकल सर्वत्र आलोचना हो रही है। वर्तमान हिन्दी व्याकरण पाश्चात्य व्याकरण के अनुसार लिखा गया है, जो किसी भी दृष्टि से उपादेय नहीं है। संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार यदि हिन्दी व्याकरण रचित हो, तो वह सर्वांग सुन्दर अवश्य होगा, इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि संस्कृत व्याकरण अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है। बाह्य और आन्तरिक इन दोनों दृष्टियों से हिन्दी व्याकरण संस्कृत व्याकरण का अनुसरण (कदापि अनुकरण नहीं, क्योंकि संस्कृत व्याकरण के अनुकरण से हिन्दी व्याकरण यथार्थ नहीं होगा, पर अनुसरण करने से होगा-यह बाद में प्रमाणित होग) कर सकता है। बाह्य दृष्टि = रचना पद्धति का अनुसरण आन्तरिक दृष्टि = पदार्थ प्रतिपादन सरणि तथा शब्दशास्त्रीय सिद्धान्त का अनुसरण। इस निबन्ध में बाह्य दृष्टि का आश्रय लेकर विचार किया जायगा, तथा आगामी निबन्ध में आन्तरिक दृष्टि से अनुसरण के स्वरूप का विश्लेषण किया जायगा, अर्थात् यह दिखाया जायगा कि प्राचीन वैयाकरणों के शब्दशास्त्र-मूलभूत कितने सिद्धान्त हिन्दी में भी सफल रूप से सगत हो सकते हैं।

रचना पद्धति के विश्लेषण में कई विषय आलोचनीय होतेहैं। यथा-अतिप्राचीन काल में व्याकरण किस रीति से लिखे जाते थे, किस प्रकार उसका क्रमविकास हुआ, कितने प्रकार की विषय – विन्यास – शैलियाँ थी, प्रत्येक व्याकरण की कौनसी मुख्य विशिष्टता थी, तथा उस विशिष्टता का कारण क्या था ? किस हेतु से कोई व्याकरण उत्कृष्ट या अपकृष्ट माना जाता था, एक के बाद अन्य व्या-

करण की रचना क्यों हुई इत्यादि । शंका हो सकती है कि व्याकरण तो सिद्ध शब्दों का अन्वाख्यान मात्र करता है अतः उसकी रचनाशैली का कौन सा महत्व या वैशिष्ट्य है, जिससे उसका विश्लेषण एक ज्ञातव्य पदार्थ होगा ? उत्तर यह है कि संस्कृत व्याकरण अंग्रेजी Grammar की तरह नहीं है (जैसे भ्रम वश कुछ व्यक्ति समझते हैं), वह सांख्य-वेदान्त की तरह एक पदार्थ विद्या (सुतरां पद-विद्या भी) है, अतः जैसे वेदान्तादिदर्शन ग्रन्थों की रचना पद्धति का विश्लेषण करना सार्थक होता है, तथा उस शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिये उस विश्लेषण की आवश्यकता है, वैसा व्याकरण शास्त्र के विषय में भी समझना चाहिए। इस निबन्ध में यह बात विशद रूप से प्रमाणित होगी ।

व्याकरण शास्त्र की भाषा शैली:—प्राचीन एवं आधुनिक जितने व्याकरण ग्रन्थ हैं, उनमें से अधिकांश सूत्र मे लिखित हैं । सूत्र पद्धति में लिखने से ग्रन्थ-शरीर अति लघु हो जाता है, जिससे अल्प काल और प्रयत्न से ग्रन्थावधारण हो जाता है । यह निश्चित है कि सूत्र को असन्दिग्ध बनाने के लिये यत्न किया जाता है, पर कभी कभी सूत्रार्थ में सन्देह हो ही जाता है, जिसके लिये परम्परागत व्याख्यान ही अनन्य शरण होता है (देखो परिभाषावृत्ति-'व्याख्यान तो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्'—परिभाषासंख्या ?) । स्वयं सूत्रकार भी कदाचित् अनेक कौशलों का प्रयोग करते हैं, जिससे अर्थों में संशयों का दूरीकरण हो जाता है । इन कौशलो के विस्तृत विवरण मैंने 'आचार्य पाणिनि के शब्दार्थ संबन्धी नियामक कौशल' लेख में किया है । सूत्र शैली में जो अत्यन्त लाघव होता है, उसका कारण है 'अनुवृत्ति का आश्रय', अर्थात पूर्व सूत्रों के अपेक्षित शब्दों का अनुवर्तन परसूत्रों मे होता है । हम हिन्दी व्याकरण में इस शैली का सफल अनुसरण कर सकते है—भाषा प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ।

कुछ व्याकरण श्लोक में भी रचित हैं । सुख से कण्ठस्थ हो जाय, इसलिये पद्य का प्रयोग किया जाता है । भारतवर्ष की विशिष्टता है कि इस देश में पाणिनी सदृश विद्या संबन्धी ग्रन्थ भी पद्यबद्ध है । विद्वानों का सरसहृदय तथा संस्कृत भाषा की असाधारण पटुता ही पद्य रचना का कारण है—इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है । व्याकरण, गणित आदि के ग्रन्थों को पद्यबद्ध करने में कष्ट क्यों नहीं हुआ इसका दूसरा कारण यह भी है कि इन ग्रन्थों में केवल प्रमेय पदार्थों का उपन्यास

है, प्रमाणों का प्रसग नहीं है यदि है भी तो 'अपूर्ण' है, अर्थात् वह प्रमाणाग प्रमाणप्रयोग का सकेत कारक मात्र है। अतः प्रमेयस्वरूपात्मक पद्यरचना में बाधा नहीं हुई (अन्यत्र इसका विशद विचार द्रष्टव्य)। ऋक्प्रातिशाख्य (प्रातिशाख्य तो व्याकरणांशविशेष है ही) तथा प्रयोगरत्नमाला व्याकरण पद्य बद्ध है। प्राक्पाणिनीय आचार्य-भागुरि का व्याकरण भी पद्यबद्ध था, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि उसके कुछ वचनों का उद्धरण पद्यरूप से मिलता है[१]।

गद्य में व्याकरण रचित हुआ था या नहीं, यह एक चिन्त्य प्रश्न है। हम सूत्र को गद्य तथा पद्य से पृथक कर गिनते हैं, पर कुछ प्राचीन व्याकरण सूत्र उपलब्ध होता है, जिसमें 'अस्ति' आदि क्रिया पदों का उल्लेख है, जिसको विशुद्ध सूत्र कहना उपयुक्त होगा, क्योंकि 'अस्ति' आदि की कुछ प्रयोजनीयता सूत्र में नहीं होती। पतञ्जलि ने एक प्राचीन व्याकरण को सूत्र का उद्धरण दिया है— 'दधो रचि वृद्धि प्रसगे इयुवौ भवत' (१।४।२ भाष्य), पर यहाँ 'भवत' क्रिया पद की सार्थकता कुछ नहीं, अतः ऐसे वाक्यों को सूत्र न कह कर यदि विशुद्ध गद्य कहा जाय तो कोई दोष नहीं होगा। इस प्रसग में यह जानना चाहिए कि 'सूत्र' शब्द का प्रयोग कुछ विशाल अर्थ में भी होता था, क्योंकि 'साग्रहसूत्रिक' नामक एक विशेष प्रकार के अध्येता का परिचय मिलता है, जिसका अर्थ है 'सग्रहसूत्रम् अधीयते' तथा सग्रह एक व्याकरण ग्रन्थ का नाम है। जिस ग्रन्थ में पद्य तथा गद्य-दोनों प्रकारके वाक्य थे। जान पडता है कि यहाँ सूत्र=सिद्धान्त भूत सक्षिप्त वाक्य, जिसमें गद्य या पद्य की विवक्षा नहीं है। भारत के प्राय सब शास्त्र के प्राचीन तक ग्रन्थ पद्य में रचित हैं क्या इससे यह अनुमान हो सकता है कि सूत्र शैली पद्यरीति से अर्वाक कालिक है? पद्यगन्धि सूत्रों का होना भी इसका एक असाधारण ज्ञापक है।

प्रत्येक वैयाकरण का स्वकीय मतः—वैयाकरण अपने मत के अनुसार सूत्रों का सज्जीकरण करता है और देखा जाता है कि रचनापद्धति में स्वकीय मत का भी पर्याप्त प्रभाव पडता है। शब्द तत्व के विषय में संस्कृतभाषा के वैयाकरण विभिन्न मत का पोषण करते थे। यथा – कुछ वैयाकरण थे, जिनको 'नैत्यशब्दिक'

---

१ देखो 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' में उद्धृत भागुरिके व श्लोक बद्धवचन।

कहा जाता है, जो शब्द को नित्य मानते थे (जैसे पाणिनि) सुतरां शब्द का अभाव उनके मत में सिद्ध नहीं होता और इसीलिये उन्होंने अवसान का लक्षण किया 'विरामो-ऽवसानम्' (१ । ४ । ११०), अर्थात् वर्णों का विराम होता है, पर अभाव नहीं होता । विपरीत पक्ष में कुछ वैयाकरण थे, जो 'कार्यशाब्दिक' थे शब्द को कार्य = अनित्य मानते थे और ऐसे शाब्दिकों ने अवसान का लक्षण किया 'अभावोऽवसानम्' (तैत्तिरीय प्रातिशाख्य) अर्थात् अवसान=वर्णोंका अभाव । यह उदाहरण स्पष्ट ही प्रमाणित करता है कि रचना में अपने मत का कितना प्रभाव पड़ता है ?

इसका दूसरा उदाहरण भी है । आचार्य वाजप्यायन जाति वादी थे (देखो भाष्य १ । २ । ६४), वे जाति को शब्दार्थ समझते थे, और चूँकि जाति एक है, बहु-नहीं, अतःउनके व्याकरण मेंव्यक्तिपक्षाश्रित जितने विषय हैं वे अवश्य नहीं रहे होंगे । वस्तुतः उसके व्याकरण में 'एकशेषवृत्ति' नहीं थी, क्योंकि 'एकशेष समास' व्यक्ति पक्षाश्रित है । जातिवादी होने के कारण ही चान्द्र व्याकरण में भी 'एकशेष वृत्ति'-प्रकरण नहीं है। विपरीत पक्ष में आचार्य व्याडि द्रव्य वादी थे, (देखो भाष्य १ । २ । ६४), सुतरां जतिपक्षाश्रित विचार उनके ग्रन्थ में नहीं थे, यह निर्विवाद है। आचार्य पाणिनि उभयवादी हैं [१], सुतरां उनके सूत्रों में दोनों वादों का प्रभाव दीख पड़ता है, जैसा पतञ्जलि ने सोदाहरण दिखाया है [२] ।

वैयाकरण के विभिन्न मतवादों के अनेक उदाहरण हैं । आचार्य शाकटायन व्युत्पत्तिवादी थे, वे कारक, पाठक आदि शब्दों की तरह वृक्ष घट आदि शब्दों को भी समान रूप से व्युत्पन्न समझते थे, जिसके अविनाभावि फलःस्वरूप उनके व्याकरण में अतिविशाल व्युत्पत्ति प्रकरण था, जिसके लिये आचार्य पाणिनि ने केवल एक सूत्र की रचना की है (उणादयो बहुलम् – ३ । ३ । १) । विपरीत पक्ष में गार्ग्य अव्युत्पत्तिवादी थे, (देखो निरुक्त) और वृद्ध का तन्त्र संप्रदाय सम्पूर्ण

---

१ 'इह जगति संसारे पदार्थो मियते द्विधा ।
कश्चिद् व्यक्तिः कश्चिज्ज जातिः पाणिनेस्तूभयं मतम् ॥ यह कारिका इस विषय में प्रमाण है ।

२ पस्पशाह्निक द्रष्टव्य ।

रूप से अव्युत्पत्ति वादी थे, उनके मत में वृक्ष आदि शब्द जैसे रूढ हैं, वैसे पाचक पाठक शब्द भी। सुतरा उनके व्याकरण में कृत् प्रकरण नहीं था, जिसके लिये पाणिनि को कई सौ सूत्रों की रचना करनी पडी थी। आचार्य पाणिनि मध्यमार्गी थे[1], अत उनकी रचना इन ऐसे आचार्यों की रचना से मूलत पृथक है, जो अवधान से वचार करने पर जाना जाता है।

मतभेद का अन्य उदाहरण भी है। आचार्य इन्द्र समझते थे कि अर्थवत्ता पद में है[2], प्रातिपदिक में नहीं, अर्थात् 'घट' अर्थवान है, केवल घट शब्द विभक्ति रहित होने से अर्थहीन विपरीतपक्ष में देखा जाता है कि पाणिनि अर्थ को प्रातिपदिक से सबन्धित करते थे (अर्थवद् धातुर प्रत्यय प्रातिपदीकम् १।२।४५)। अब इन दोनों विभिन्न मतों के कारण दोनों की रचनापद्धति भी भिन्न हो गयी है अर्थात् शब्द जब विभक्ति शून्य होगा, तब उसमें अर्थवत्ता लाने के लिये इन्द्र को यत्न करना पडा होगा, पाणिनि को नहीं इत्यदि। ठीक यही बात 'समासशक्ति' में भी दीख पड़ती है। कुछ ऐसे वैयाकरण थे, जो समास में अखराडशक्ति मानते थे (अर्थात् समस्यमान पदों की पृथक शक्ति नष्ट हो जाती और सब पदोंमें एक अखराड शक्तिही रहती है), और कुछ ऐसे वैयाकरण थे जो समास में ही प्रत्येक पदों की पृथक् पृथक् शक्ति मानते थे। यहाँ अखराडवादियों ने दिखाया है कि पृथक शक्ति वादी के विचार में कहाँ कहाँ अधिक गौरव है, लाघव नहीं है, जो उत्कृष्ट सिद्धान्त के लिये अत्यावश्यक है। अत यह मानना पड़ेगा कि सिद्धान्त के अनुसार रचना में लाघव गौरव होता है। केवल इतना ही नहीं, सिद्धान्त को देखकर मतों का पौर्विपर्य–निरूपण हो सकता है, इसका एक सुन्दर उदाहरण अन्य लेख में मैंने दिखाया है[3]।

---

१ कुछ प्राक्पाणिनीय वैयाकरण एक पक्षावलम्बी विचार रखते थे, या तो वे व्युत्पत्तिवादी होते थे, या अव्युत्पत्तिवादी,तथा या व्यपेक्षावादी या एकार्थीभाव वादी। पाणिनि एक ऐसे आचार्य थे, जिन्होंने इन सब विवादग्रस्त वादों का समन्वय किया। प्रत्येक वादों के उपयुक्त स्थान का निर्णय किया, किसी वाद की ओर एकान्त रूप से आग्रही नहीं हुए। इसका निरूपण मैंने 'आचार्य पाणिनि का समन्वयवाद' शीर्षक लेख में किया है।

२ निरुक्तवृत्ति पृ० १०, तथा कलापचन्द्र (सन्धि १०)

३ Some chief characteristics of Paninini (O I Baroda के जर्नल में प्रकाशित)

सिद्धान्तभेद के अनुसार रचना पर प्रभाव का अन्य प्रमुख उदाहरण 'प्रतिपदिकार्थ' के विचार में भी दीख पड़ता है। स्वार्थ-द्रव्य-लिंग-संख्या तथा कारक-ये पांच प्रातिपादिक का अर्थ माना जाता है, और भिन्न भिन्न अचार्य इन मे से एक, दो, तीन, तथा चार को प्रातिपादिकार्थ मानते थे। इन भिन्न २ मान्यताओं के अनुसार सूत्रप्रणयन करने से रचना में भी विभिन्नता आयेगी इसका सोदाहरण विचार व्याख्यान-ग्रन्थों मे द्रष्टव्य है।

इस प्रकार मतभेद के लिये कुछ ऐतिहासिक कारण भी होता है। हम इस प्रत्येक मत-विरोध का पृथक् पृथक् कारण दे सकते थे, पर निवन्ध में संक्षिप्तता लाने के लिये केवल एक का ही विचार किया जायगा-विस्तृतविचार निवन्धान्तर साध्य है। हमने कहा है कि इन्द्र के मत में अर्थवत्ता पद की है, प्रातिपदिक की नहीं, और परवर्तीकाल में पाणिनि ने अर्थवत्ता को प्रतिपादिक से संवन्धित किया है। इसका वास्तविक कारण यह है कि इन्द्र आदिम वैयाकरण है, उन्होने अव्याकृत वाणी को व्याकृत किया[1], अतः उनकी दृष्टि के सामने अव्याकृत शब्द=अविभक्त-वाक्य=पद-समूह ही तो था, विभक्तिहीन प्रातिपदिक तो नहीं था, अतः अर्थवत्ता पद मे ही है-यह उनको सुतरां कहना पड़ा। पर पाणिनि के काल मे पदभेद तथा पद-विश्लेपण प्राक्-सिद्ध था, अतः उनकी दृष्टि में अर्थवत्ता को प्रातिपदिक से सम्वन्धित करना असंगत नहीं था।

इस प्रकार हम देखते है कि यदि केवल रचना-पद्धति का ही विश्लेपण किया जाय, तो भी अनेक गूढ रहस्यों का उद्घाट होता है। पद, प्रातिपदिक, व्युत्पत्ति आदि विपयों पर हिन्दी वैयाकरणों को भी प्राचीनों की तरह चिन्ता करनी होगी, पर हम आशा करते हैं कि वे पाणिनि की तरह मध्यममार्गावलम्वी होंगे, जिससे एकअनुपम सिद्धान्त की सृष्टि होगी।

प्रत्येक व्याकरण की विशिष्टता:-

हम देखते है कि प्रत्येक व्याकरण की कुछ न कुछ निजी विशिष्टता है, जिसके लिये एक की रचना पद्धति अन्य से भिन्न होती है। सव व्याकरण

---

१ तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ का सायण भाष्य द्रष्टव्य।

ग्रन्थों से उदाहरण देना सभव नहीं है, पर विशिष्ट व्याकरणों का उदाहरण देकर आलोचना की जा रही है। इन, विशिष्टताओं का कारण क्या है, यह भी यथासभव विवृत होगा।

प्राक् पणिनीय काशकृत्स्नीय व्याकरण की एक विशिष्टता थी, जैसा कहा गया है- 'काशकृत्स्न गुरुलाघवम' (सरस्तीकराठाभरण की हृदयहारिणी-वृत्ति ४।३।२४६) अर्थात लाघव-गौरव का विचार कर काशकृत्स्न व्याकरण में सूत्रों की रचना की गई थी। यह कोई सिद्धान्त सबन्धी विशिष्टता नहीं है, पर रचना-पद्धति सबन्धी मौलिक वैशिष्ट्य है, जिसको हिन्दवैयाकरणों को अपनाना ही पडेगा। शायद काशकृत्स्न के पहले व्याकरणरचना में शाब्दिकलाघव गौरव का विचार नहीं किया जाता था, और आचार्य काशकृत्स्नही इस शैली के उपज्ञाता थे। उसी प्रकार आपिशल व्याकरण की भी एक विशिष्टता का उल्लेख मिलता है- 'आपि शलम् आन्त करणम्' (हृदयहारिणी ४।३।२४६) यदि आन्त करण का अर्थ 'प्रत्यय' हो[१] तो मानना होगा कि प्रत्यय सम्बन्धी विचार आपिशल व्याकरण की विशिष्टता थी अथवा आपिशल प्रत्ययनिर्देशन का उपज्ञ है।

उसीप्रकार पाणिनि व्याकरण की भी एक विशिष्टता है-'पाणिन्युपज्ञम अकालक व्याकरणम्' (काशिका २।४।२१), पाणिनी व्याकरण अकालक है, अर्थात् काल *परिभाषाओं से रहित है। वर्तमान, अद्यतन, परोक्ष आदि काल परिभाषाओं का* लक्षण इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है, यद्यपि इसका विचार प्राक् पाणिनीय ग्रन्थों में था। चूँकि काल परिमाण सर्वथा लोक विदित है तथा विवक्षा-नुसार परिवर्तनशील है, अत पाणिनि ने इन सबों का लक्षण करना अनुचित समझा (देखो सूत्र 'कालोपसर्जने' चतुल्यम १।२।५७)। पाणिनि की यह लोका-श्रयणपरायणता उनकी विशाल विद्वत्ता का ज्ञापक है, क्योंकि व्याकरण का मूल स्रोत लौकिक शब्द ही है।

---

१ 'आन्त करणं' का पाठ कुछ गड़बड़ सा प्रतीत होता है, सभव है कि यह 'अन्तकरण' हो, निरुक्त में जिसका पारिभाषिक अर्थ है 'प्रत्यय' (निरुक्त की स्कन्द टीका १।१२)।

इसी प्रकार चान्द्र तथा जैनेन्द्र व्याकरण की भी पृथक् २ विशिष्टता है, रचना पद्धति पर जिसका प्रभाव साक्षात रूपसे दीख पड़ता है। चान्द्र व्याकरण को 'असंज्ञक' कहा जाता है। असंज्ञकं अर्थात संज्ञाओं का न रहना (चान्द्रवृत्ति २।२।६८)। पाणिनि आदि के व्याकरणों में अनेक संज्ञाएं हैं, पर चान्द्र में प्रायः संज्ञा का व्यवहार नहीं है, कुछ विशिष्ट स्थलों में ही दो चार संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है। पारिभाषिक संज्ञाशब्दों से वर्जित एकशास्त्र का प्रणयन करना कितना कठिन काम है, यह सहज ही समझ में आजाता है। देव नन्दी के व्याकरण का वैशिष्ट्य है 'अनेकशेषत्व' अर्थात एक शेषप्रकरण का न होना (१।४।९७)। इसका कारण क्या है-यह पहले कहा जा चुका है।

भोज प्रणीत सरस्वतीकंठाभरण व्याकरण की भी एक अनन्य साधारण विशिष्टता है, जो व्याकरण रचना के कौशलों में मुख्यतम है। पाणिनि उदात्त आदि स्वरों का निर्देश अनुबन्ध से करते हैं, पर अनुबन्ध दर्शित स्वर सर्वत्र वेद में उपलब्ध नहीं होता, और इस असंगति को दूर करने के लिये सर्वत्र 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) सूत्र का आश्रय लेना पड़ता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि भोजीय व्याकरण ने अनुबन्ध के अनुसार वैदिक स्वर अनेक अधिक स्थलों पर मिलते हैं। पाणिनि की अपेक्षा यह एक अधिक उत्कर्ष है। इसका विशद विवेचन अन्यत्र किया जायगा।

मुग्धबोध आदि व्याकरणों के अनेक अल्पाक्षर संज्ञाओं का व्यवहार है जहाँ पाणिनि आदि के ग्रन्थों में बड़ी बड़ी संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है यह स्पष्ट है कि अति लाघव प्रियता ही ऐसे व्यवहार का कारण है।

अवान्तर विषयों का प्राधान्य :—

यद्यपि संस्कृत शब्दों का अन्वाख्यान करना ही सब व्याकरणों का एक मा विषय है, तथापि किसी किसी व्याकरण में किसी न किसी विषय का विशेष प्रति पादन है, और किसी का सामान्य विवरण मात्र दिया गया है। यह वस्तुतः सहेतु है अपनी दृष्टि के अनुसार ग्रन्थकार को जो विषय अल्प प्रयोजनीय मालूम पड़ उसी का ही सामान्य प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणों के साथ यह विष स्पष्ट किया जा रहा है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में कहा गया है—"भरद्वाज कमाख्यात भार्गवो नाम भाषते, वाशिष्ठ उपसर्गस्तु निपात काश्यपं स्मृत" (८।५०) अर्थात् भरद्वाज, भृगु, वशिष्ठ और काश्यप यथाक्रम आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात के उपज्ञाता थे। इस वाक्य का यह अर्थ नहीं हो सकता है कि इन आचार्यों के पहले इन विषयों की चर्चा पूर्ण रूप से नहीं होती थी, इसका न्याय्य अर्थ यही है कि ये आचार्य इन विषयों के सविशेष आलोचक थे, अर्थात् इनके ग्रन्थों में इन विषयों की चर्चा अपनी पराकाष्ठा पर पहुच चुकी थी। इससे एक बात और निकलती है कि अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में इन विषयों की चर्चा या तो नहीं थी या सामान्य रूप में थी। प्राचीन आचार्यों की यह शैली थी कि वे किसी विद्या के एक अश को लेकर ग्रन्थ लिखते थे, अन्य अश की सामान्य आलोचना ही वे करते थे, व्याकरण शास्त्र में भी यही रीति दीख पड़ती है।

आचार्य पाणिनि के ग्रन्थों मे भी यही सत्य दीख पड़ता है। हमने अन्यत्र प्रमाण दिया है[1] कि प्राक् पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थों में कृत तद्धित तथा समास का सामान्य विवेचन था, और पाणिनि ने इन विषयों का पूर्ण सकलनात्मक विवेचन किया है। काल के परिवर्तन के साथ साथ समास कृदन्त तथा तद्धितान्त शब्दों का बहुल प्रयोग होता है, अत अति प्राचीन काल मे इन विषयों का व्यापार अति विपुल नहीं था, जैसा पाणिनि के काल में हुआ था, और यही कारण है कि पाणिनीय ग्रन्थों में इन विषयों की पूर्णांग आलोचना है।

कातन्त्र व्याकरण में भी यही बात चरितार्थ होता है। इसमें कृत् प्रकरण नहीं है, तथा सन्धि सुबन्त, तिङन्त, तथा कारक (चतुष्टय) के लिये ही यह शास्त्र रचित हुआ था। इसमें अन्य विषय का या तो अभाव है, या कहीं पर अति सामान्य रूप से कहा गया है। परवर्तीकाल में अन्य आचार्य ने इस कमी की पूर्ति की है।

वैदिक शब्द विश्लेषण मे भी यही बात दीख पड़ती है। यों तो प्रत्येक वेद का पृथक् पृथक् प्रातिशाख्य (प्रतिशाख्य भवं प्रातिशाख्यम) है, जिसका नियम

---

१ 'भीमदमाज्ञवत पाणिनि समत सूत्रार्थ निर्णय' ग्रन्थ में मैंने इस विषय का विशेष विचार किया है।

अपनी शाखा में ही चरितार्थ होता है पर पाणिनि ने अष्टाध्यायी को "सर्व वेद पारिषद्" बनाया (सर्व वेद पारिषदं हीदं शास्त्रम्-महाभाष्य २।१।५७)। पर पाणिनि का स्वर प्रकरण सामान्य है, विशेष भेद पाणिनि के ग्रन्थों में नहीं है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' (८।२।४६) सूत्र। प्राति शाख्यों में यह विषय अनेक नियम-उपनियम-अपवादों के साथ भाषित है।

प्रत्येक व्याकरण में इस प्रकार प्रधानता का कुछ न कुछ कारण है। जैसे कलाप में तद्धित आदि नहीं है, इसका कारण यही है कि उनके रचयिता यह समझते थे कि व्याकरण से तद्धितार्थ का ज्ञान होना सुकर नहीं है, कोषादि से ही उसका सम्यक् ज्ञान हो सकता है। पाणिनि ने यद्यपि तद्धित प्रकरण का बहुत विस्तार से विवेचन किया है, तथापि किसी किसी वैयाकरण की दृष्टि में उसमें भी भ्रम है, जैसा स्वयं राजशेखर ने कहा है— 'तद्धितमूढाः पाणिनीयाः' यह भी हो सकता है कि जिस व्याकरण के रचनाकाल में जिस विषय की अधिक चर्चा होती है, उस समय के व्याकरण में उस विषय का विशद विवेचन किया गया है।

उदाहरणों का वैशिष्ट्य—

'लक्ष्य-लक्षणे व्याकरणम्' (पस्पशाह्निक) अर्थात् उदाहरण तथा सूत्र समुदित रूप से व्याकरण का रूप परिग्रह करते हैं। सूत्रार्थ तथा सूत्र प्रवृत्ति जानने के लिये उदाहरणो का ज्ञान सर्वथा अपरिहार्य है। वस्तुतः सूत्र सापेक्ष अर्थात् पूरण सापेक्ष होता है। (सूत्राणि सोपस्काराणि भवन्ति-६।१।१ प्रदीप) और यह पूरण उदाहरण प्रत्युदाहरण आदियों से किया जाता है, अतः व्याकरण रचना में उदाहरणों का अति उच्च स्थान है। वैयाकरणों ने सावधानता से उदाहरणो का संकलन किया है। वस्तुतः उदाहरणों का उतना ही प्रामाण्य है, जितना सूत्रों का[1]। यहाँ पर प्रत्येक व्याकरणों के उदाहरणों में जो वैशिष्ट्य है, वह दिखाया जारहा है। यथासंभव विशिष्ट प्रकार के उदाहरणों का कारण भी दिखाया जायगा।

---

१. देखे मेरा लेख :- 'Authoritativeness of the examples of the mahabhasya as shown by Grammarians.

हरिनामामृत व्याकरण के उदाहरण में एक वैचित्र्य दीख पड़ता है — सभी उदाहरणों में किसी न किसी कृष्ण लीला (या अन्य अवतार की लीला) का चित्रण है, केवल लौकिक उदाहरणों को देकर नियमों का विवरण नहीं किया गया है। यह रीति कुछ अंश तक मुग्धबोध व्याकरण में भी अनुसृत हुई है। आध्यात्मिक रुचि संपन्न पाठकों के लिये यह शैली अवश्य रुचिकर हुई होगी। यह रीति यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि में संगत होती है, परन्तु इससे व्याकरण का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'लौकिकी विवक्षा' के अनुसार उदाहरण देना ही प्राचीन आचार्य संमत है।

काशिका (पाणिनि-सम्प्रदाय) में इसका विपरीत है। उसमें लोक व्यवहार सिद्ध उदाहरणों की प्रचुरता है तथा कई स्थलों पर ऐतिहासिक उदाहरण भी है। इन ऐतिहासिक उदाहरणों का प्रामाण्य कम नहीं है, क्यों कि वैयाकरण उन लौकिक व्यवहार सिद्ध उदाहरणों को देगा, जो उस समय उसकी सत्यता निबन्धन प्रचलित होगया है (तुलना करो वार्त्तिक - 'परोक्षे च लोक विज्ञाते प्रयोक्तु दर्शन विषये'— ३।२।१११)।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि में,—

जैसे प्रत्येक व्याकरण में विषयों का प्राधान्याप्राधान्य है या ग्रहण त्याग है, वैसे विषयों की अवधि में भी कुछ व्याकरणों में विभिन्नता है। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण तीन मुख्य भागों में बांटे जा सकते हैं (क) वैदिक, (ख) लौकिक तथा (ग) लौकिक वैदिक। प्रातिशाख्यों को वैदिक व्याकरण कहा जा सकता है, क्यों कि केवल वैदिक शब्द व्यवहार ही उसका विषय है। प्रायः सभी अर्वाचीन व्याकरण लौकिक है (यथा कातन्त्र, मुग्धबोध सारस्वत आदि)। यहाँ यह जानना चाहिए कि कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनके वैदिकत्व अथवा लौकिकत्व के विषय में मतभेद है[1]

---

१ इस विषय के अनेक उदाहरण हैं। कितने ही ऐसे शब्द हैं (यथा उपूप आदि) जिनको आचार्य आपिशलि लौकिक कहते थे, पर पाणिनि के अनुसार वे शब्द सर्वथा वैदिक हैं—ऐसे महामहोपाध्याय पुरुषोत्तम देव ने कहा है। उसी प्रकार आचार्य पाणिनि जिन शब्दों को (यथा स्वशावि इत्यादि) लौकिक कहते हैं, उनको पाक पाणिनीय आचार्य आपिशलि

अर्थात् किसी एक व्याकरण के अनुसार जो लौकिक है, वह अन्य व्याकरण के अनुसार वैदिक है इत्यादि। पर इससे व्याकरण के विभाग में कोई भेद नहीं होता। पाणिनि की अष्टाध्यायी लौकिक वैदिक है, अर्थात् दोनों प्रकार के शब्दों का इसमें अन्वाख्यान है। उपलब्ध प्रमाणों से यह निश्चय हो चुका है कि प्राक्पाणिनीय कुछ कुछ व्याकरणों में भी इन उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था।

अर्वाचीन काल के व्याकरण में भी कुछ विलक्षणता दीख पड़ती है। संक्षिप्तसार व्याकरण के अन्तिम पाद में प्राकृत भाषा का उपदेश तथा छन्द आदि का विवरण है। व्याकरण शब्द को यदि असंकुचित अर्थ में लिया जाय, तो ये सब विषय व्याकरण के अन्तर्गत ही होंगे इसमें सन्देह नहीं है और यदि इन विषयों को व्याकरणांग न माना जाय, तो भी संक्षिप्तसार का व्याकरणत्व क्षुण्ण नहीं होगा, क्योंकि–'नहि गौर्गडुनि जाते विषाणे वा भग्ने गोत्वं तिरोधीयते' (शावरभाष्य)

पारिभाषिक प्रक्रिया की भिन्नता:—

वाह्य दृष्टि में प्रत्येक व्याकरण का विषय है 'शब्द निष्पत्ति' अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आदि विश्लिष्ट पदार्थों से काल्पनिक प्रक्रिया द्वारा पदों का निर्माण, जिससे लघुता से अनन्त शब्दों का ज्ञान हो जाय[1]। वैयाकरण इस प्रक्रिया को सर्वथ असत्य समझते हैं, और प्रत्येक व्याकरण में पदनिर्माण की पद्धति कुछ न कुछ भिन्न है; पर प्रक्रिया भिन्न होने पर भी निष्पन्न पद में विवाद नहीं है (कुछ विशिष्ट पदों के विषय में विवाद यद्यपि है, पर उससे मूल सिद्धान्त की हानि नहं

वैदिक कहते थे, ऐसा काशिकाकार ने कहा है। यहाँ तक देखा जाता है कि जिन शब्द को पाणिनि ने लौकिक कहा है, उनको पतञ्जलि वैदिक कहते है (जैसे मघवन आदि) य एक चिन्तनीय विषय है कि क्यों किसी शब्द के वैदिकत्व तथा लौकिकत्व के विषय में मतभेद है पृथक् निबन्ध में हम इस विषय का विचार करेंगे।

१ व्याकरण की रचना ही इसलिये की जाती है कि लघुता के साथ शब्दार्थ ज्ञान हो जाय, और इसीलिये प्रकृति प्रत्यय आदि में शब्दों का विभाग किया जाता है। (लघुमञ्जूषा का प्रथम वाक्य द्रष्टव्य)।

होती-ऐसा जानना चाहिए। एक ही शब्द विभिन्न व्याकरणों में विभिन्न रीतियों से किस प्रकार निष्पन्न किया जाता है, उसके कुछ रोचक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। यथा —

पाणिनि ने 'नेदिष्ठ' शब्द को अन्तिक शब्द के स्थान पर नेद आदेश कर तण्डित प्रत्यय से बनाया है, (नेदिष्ठ=सबसे निकट) पर प्राक्पाणिनीय किसी आचार्य ने 'नेद' धातु से कृत प्रत्यय से इस पद को निष्पन्न किया था- ऐसा क्षीर स्वामी ने क्षीर तरंगिणी में कहा है (नेद धातु द्रष्टव्य)। इस प्रकार प्रक्रिया भेद होने पर भी अर्थ में विवाद नहीं है- ऐसा जानना चाहिए। पाणिनि के धातु - पाठ में एक धातु है। 'अस्' (अस् भुवि अदादिगण)। जिससे 'अस्ति' 'स्तः' 'सन्ति' आदि रूप बनाये जाते हैं, पर प्राक् पाणिनीय आचार्य आपिशलि के 'अस्' के स्थान से 'स' धातु की कल्पना की थी और अपनी प्रक्रियायों से वे 'अस्ति' आदि रूपों को बनाते थे। वस्तुत इसमें किसी आचार्य में भी गुण या दोष की कल्पना नहीं करनी चाहिये, अपनी अपनी पारिभाषिक प्रक्रिया के अनुसार सभी ने पदों की सिद्धि की है।

उसी प्रकार हम देखते हैं कि तिङन्त प्रयोगों की लकार सम्बन्धी व्यवस्था पाणिनि ने जिस प्रकार से की है, प्राचीनतम आचार्य की प्रक्रिया ठीक वैसी नहीं है। निरुक्तटीका में दुर्गाचार्य ने इसका उल्लेख किया है[1]। पाणिनि के व्याकरण में कितनी ही ऐसी प्रक्रिया हैं, जो प्राचीन आचार्य के अनुसार नहीं है। पाणिनि के अनुसार व्याकरण+अण् = स्थिति में ऐजागम होकर 'वैयाकरण' पद बनता है, पर प्राक्पाणिनीय आचार्य के अनुसार 'वियाकरण' बनकर तब 'वैयाकरण' बनता था। कैयट ने कहा है कि पाणिनि के अनुसार यत् + वतुप स्थिति में आत्व होकर 'यावत्' शब्द बनता था, पर प्राचीन आचार्य 'डावतु' प्रत्यय का ही विधान करते थे, जिससे 'आत्व' के लिये पृथक प्रयत्न नहीं करना

---

(१) 'पाणिनीया पूर्वाचार्याणां प्रक्रियान्तरं मन्यमाना [illegible] ह्यनुपपन्नमिति। [illegible] ××× [illegible]। [illegible]' (निरुक्तवृत्ति १।११)।

पड़ता था। यद्यपि इससे ध्वनित होता है कि पाणिनीय तन्त्र में सर्वथा लाघव नहीं है, पाणिनि से भी अधिक लाघव किया जा सकता है, पर इसका विपरीत उदाहरण भाष्यकार पतञ्जलि ने दिखाया है। ४। १। ६८ सूत्र भाष्य में उन्होंने पाणिनि से भिन्न प्राक पाणिनीय आचार्य की प्रक्रिया का उल्लेख किया है, और उनकी बातों से तथा व्याख्यान से पता चलता है कि पाणिनि की प्रक्रिया ही लघु है।[1]

व्याकरण रचना का प्रयोजनः—

संस्कृत भाषा के मौलिक व्याकरण ग्रन्थ संख्या में कई सौ हैं—अमौलिक ग्रन्थों की संख्या करना तो असंभवसा है। इतने ग्रन्थों की रचना केवल एक कारण से नहीं हो सकती है-यह सहज से समझ में आती है। यहाँ कुछ व्याकरण ग्रन्थों की रचना मे कौन सा प्रयोजन था—संक्षेप में इसका उल्लेख किया जा रहा है।

प्राचीनकाल मे जितने व्याकरण रचित हुए थे, वे सब स्वकीय दृष्टि के अनुसार शब्दों के अन्वाख्यान के लिये प्रवृत्त थे। विषय का प्राधान्य या अप्राधान्य ग्रन्थकार के स्वकीय दृष्टिकोण के अनुसार निश्चित होता था। पर अर्वाचीन काल में कुछ ऐसे भी व्याकरण रचित हुए हैं, जिसका कारण है किसी न किसी प्रकार की लौकिक अवस्था। नरहरि ने कहा है कि मेरे व्याकरण के पाठ से अत्यल्प दिन मे पंच महाकाव्य समझने की योग्यता होती है। कुछ व्याकरण 'बालावबोधनार्थ' रचित है। इस प्रकार सुखार्थ, अल्पकालार्थ, बालार्थ आदि लौकिक अवस्थाओं के अनुसार आधुनिक व्याकरण रचित हुए हैं। उनमे विषय की व्यापकता, विश्लेषण की वैज्ञानिकता शास्त्र की पूर्णता आदि नहीं है। अध्येताओं की किसी न किसी दुर्बलता को लक्ष्य कर वे व्याकरण ग्रन्थ रचित हुए हैं, अतः वे शास्त्र-

---

(१) प्राक् पाणिनीय व्यकरण की कितनी प्रक्रियायों से पाणिनि की प्रक्रिया में भेद हैं, यह पाणिनीय वैयाकरणों के लिये एक अवश्य अवधातव्य विषय है। मैंने पृथक् निबन्ध में इसका विशद निरूपण किया है।

पद वाच्य नहीं हो सकते हैं, पर उनको Manual अथवा अधिक से अधिक Compendium कहा जा सकता है। चूँकि इनमें विषय विश्लेषण की अपेक्षा अध्येतृसापेक्षता अधिक है, अत वे शास्त्र नहीं है।

प्राचीनकाल के व्याकरण ग्रन्थ में ऐसे दोष नहीं हैं। उस समय में सामाजिक स्थिति ऐसी थी कि अध्येता बाधाशून्य होकर शास्त्रज्ञान का अभ्यास कर सकते थे। किसी विशिष्ट व्यक्ति के अनुसार ग्रन्थ की रचना नहीं होती थी (जैसा कलाप आदि व्याकरणों के विषय में कहा जाता है)। वस्तुत पाठक सापेक्ष ग्रन्थ उत्कृष्ट ग्रन्थ हो सकता है, पर वह 'शास्त्र' नहीं हो सकता। यही कारण है। अर्वाचीन सब व्याकरण ग्रन्थ के अध्ययन से संस्कृत भाषा का ज्ञान हो सकता है, पर उससे कोई वस्तुत वैयाकरण नहीं हो सकता, ठीक जैसे विद्यालयपाठ्य विज्ञान के ग्रन्थों को पढकर कोई विज्ञानवित् नहीं हो सकता।

प्रयोजनानुसार व्याकरण ग्रन्थो का निम्न विभाग हो सकता है। (क) संक्षिप्त करने लिये, (ख) अधिक स्पष्टता के लिये, (ग) अपूर्ण अंश की पूर्ति के लिये, (घ) अल्पकाल में ज्ञानसंपादन के लिये, (ङ) बालों के बोध के लिये, (च) विशेष मत के श्रद्धालु व्यक्तियों के लिये इत्यादि।

ग्रन्थ का परिमाण:—

रचना शैली के विषय में इसका स्थान यद्यपि गौण है, तथापि विचारक पूर्णता के लिये कुछ व्याकरणों के ग्रन्थ परिमाण के विषय में उदाहरण दिया जा रहा है। पाणिनि का व्याकरण ८ अध्याय और ४ पाद में विभक्त है अर्थात् ३२ पाद उसमें हैं अत उसको 'अष्टक कहा जाता है (अष्टक पाणिनीयम्)। काशकृत्स्नव्याकरण तथा व्याघ्रपद के व्याकरण ग्रन्थ के परिमाण के विषय मे कहा जाता है—'त्रिका काशकृत्स्ना' 'दशका वैयाघ्रपदीया, अर्थात् काशकृत्स्न के व्याकरण में तीन अध्याय तथा व्याघ्रपद के व्याकरण मे १० अध्याय थे। कुछ व्याकरणों में केवल पाद का ही व्यवहार है जैसे दश पादि।

इस प्रसंग में यह जानना चाहिए कि प्राचीनकाल में व्याकरण ग्रन्थों के परिमाण सूचक वाक्यों का प्रचार था, जैसे पाणिनिव्याकरण के विषय में

ह्युयेन्त्साङ ने कहा है कि अष्टाध्यायी का परिमाण १००० श्लोक का है। 'संग्रह' नामक व्याकरण ग्रन्थ के लिये कहा जाता है कि उसका परिमाण एक लक्ष श्लोक है। इस उपाय के द्वारा इन ग्रन्थों की प्रक्षेपों से रक्षा की गई है।

व्याकरण ग्रन्थों का खिल पाठः—

मूल ग्रन्थ का उपाकार अतिवृहत् न हो जाय, इसलिये अपने ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में आचार्यों ने 'खिलपाठों' की रचना की है। 'खिलपाठ' रचना की शैली पौराणिक संप्रदाय में और उससे भी प्राचीन वैदिक संप्रदाय में भी दीख पड़ती है, तथा प्राक् पाणिनीय वैयाकरण आपिशलि आदियों ने भी इस शैली को अपनाई है।

खिलपाठ के विषय में काशिका में कहा गया है— 'उपदिश्यतेऽनेनेति उपदेशः शास्त्रवाक्यानि। सूत्रपाठः खिलपाठश्च' (१।३।२) इस वाक्य से पता चलता है कि मूल ग्रन्थ तथा उसके परिशिष्टभूत ग्रन्थ-दोनों समान रूप से प्रमाणभूत हैं। यद्यपि सूत्रपाठ के अतिरिक्त खिलपाठों का अध्ययन सुचारु रूप से दीर्घकाल से ही नहीं हो रहा है, तथापि प्राचीनकाल में ऐसा होता था, क्योंकि मूल ग्रन्थ की तरह खिलग्रन्थों की भी व्याख्यायें उपलब्ध हो रही हैं। खिलग्रन्थ की सूची निम्नप्रकार की हैः—

(क) धातुपाठ। इसमें धातुयों का संकलन आचार्य करते थे। आपिशलि, पाणिनि, काशकृत्स्य आदि के धातुपाठ थे, पाणिनि ने सूत्रपाठ के पहले धातुपाठ की रचना की थी। धातुपाठ सबसे महत्व पूर्ण ग्रन्थ होता है क्योंकि सब शब्दो की मूल प्रकृति धातु ही है।

(ख) गणपाठः— जब कोई एक कार्य अनेक शब्दों (जैसा २०) से होता है, तब आचार्य कभी कभी उन शब्दों का सूत्र में न पढ़कर पृथक् गणपाठ की रचना कर, सूत्रपाठ में उसका सकेत मूलक व्यवहार करता है। प्राक् पाणिनीय आचार्यों की कृतियों मे भी गणपाठ का व्यवहार मिलता है। प्राक् पाणिनीय ग्रन्थों मे गणपाठ नहीं है (प्रातिशाख्य) अर्थात् सूत्र में ही अपेक्षित सब शब्दों का पाठ है। जब से वैयाकरणों में लाधव करने की रीति प्रचलित हुई है,

यसे गणपाठ रचना की प्रवृत्ति हुई—ऐसा सामान्यत कहा जा सकता है। गणपाठ को खिलाशभूत कर पढने से एक हानि भी हुई, पठन-पाठन में उसका प्रयोग क्रमश क्षीण होने लगा। इस दोष के दूरीकरण के लिये महामति भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरणव्याकरण में गणपाठ को सूत्रपाठ के साथ मिला दिया है। सब खिलपाठों को सूत्रपाठ में अन्तर्भाव—यह भोज की उपज्ञा है। आधुनिक मुग्धबोधादि व्याकरणों में गणपाठ पृथक् रचित नहीं है, वृत्ति मे अपेक्षित शब्दों का उदाहरण दिया जाता है, जो पाणिनीय गणपाठ की तरह पूर्ण नहीं है।

(ग) लिङ्गानुशासन — पाणिनि ने लिङ्ग-परिशिष्ट की भी रचना की थी—ऐसी, प्रसिद्धि है। भागुरि आदि कुछ वैयाकरणों के कोषग्रन्थ भी थे, और यदि उन कोषों में लिंगनिर्देश भी था, तब अधिकाश वैयाकरण लिंगनिर्देशक थे—ऐसा मानना होगा। आपिशलि आदि के व्याकरणों का लिंगपरिशिष्ट था—ऐसा प्रमाण नहीं मिला है। लिंगानुशासन में किस प्रकार के शब्दों का कौन लिंग होता है—इसका निर्देश है।

(घ) शिक्षा — पाणिनि, आपिशलि, चन्द्राचार्य आदि के शिक्षाग्रन्थ प्रसिद्ध है। वर्णोत्पत्ति व्यापार का सोदाहरण प्रतिपादन (अर्थात् स्थान, करण, प्रयत्न आदि का निर्देश) इन ग्रन्थों में किया गया है। ये ग्रन्थ या तो सूत्रमय या श्लोकबद्ध होते थे।

(ङ) उणादि — सभी व्याकरणो का अपना अपना आदिसूत्र है—ऐसा देखा जाता है। प्रचलित व्याकरणों के लिये उणादिप्रकरण व्यर्थ जान पड़ता है, और इसीलिये उन सत्रों का प्रचार भी प्राय नष्ट ही है। केवल एक विषय में उणादि सार्थक है, और चिरकाल रहेगा, वह है वैदिक शब्दों का अर्थज्ञान तथा अनुबन्धों के अनुसार स्वरों का निर्णय। शब्दों के यौगिक अर्थ का ज्ञान औणादिक प्रकरण के बिना नहीं हो सकता। कहा भी गया है—'अणाद्यधीना निगमेऽपिच स्वरा' (उणादिवृत्ति)॥

(च) प्रत्याहार — वर्णों के निर्देश के लिये यह पद्धति अपनाई जाती है। विभक्ति तथा प्रत्ययों के निर्देश के लिये भी पाणिनि ने इस पद्धति का व्यवहार किया है, सुप, तिङ आदि इसके उदाहरण हैं। प्राक् पाणिनीय आचार्यों ने भी

प्रत्याहार रीति का व्यवहार किया था-ऐसा देखा जाता है। लाघव के लिये। प्रत्याहार रीति आविष्कृत हुई। 'प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अस्मिन्' य निर्वचन ही इस तथ्य में प्रमाण है। संक्षेपीकरण की यह पद्धति असाधारण मे का परिचायक है, और वर्तमान काल में भी इसका व्यवहार किया जा सकता है निर्देष्टव्य वर्णों के आदि और अन्त्य वर्ण को मिलाकर तदन्तर्गत अन्य वर्णों व भी निर्देश इस पद्धति से किया जाता है। प्रत्याहार बनाने की पद्धति स व्याकरण में समान होती हुई भी कहीं कहीं कुछ भिन्न है, जो मुग्धबोध तथा पाणि के प्रत्याहारों की तुलना करने से प्रतीत होता है।

व्याकरण शास्त्र की रचना पद्धति एक अन्वेष्टव्य विषय है और शास्त्रीय ज्ञान के पूर्णता सम्पादन के लिये इसकी आवश्यकता भी है। आशा है अन्य विद्वज्जन भी इस विषय पर विचार करेंगे।

राजस्थानी जैनसाहित्य (२)

(प्रथम भाषण भाग ४ अक ४ मे प्रकाशित है उससे आगे का अक)

(अभिभाषक—अगरचंद नाहटा)

रास्थानी जैनसाहित्य की विशालता, विज्ञानता एव विशेषताए

राजस्थानी जैन साहित्य बहुत विशाल एव विविध है। विशाल इतना कि परिमाण में मेरी धारणा के अनुसार चारणों के साहित्य से भी बाजी मार लेगा। उसकी मौलिक विशेषताए भी कम नहीं है। उसकी सब से प्रथम विशेषता यह है कि वह जन भाषा में लिखा है। अत: वह सरल है। चारणों आदि ने जिस प्रकार शब्दों को तोड़ मरोड़ कर अपनी ग्रंथों की भाषा को दुरूह बना लिया है वैसा जैन विद्वानों ने नहीं किया है। इसीलिये वह बहुत बड़े क्षेत्र में सुगमता से समझा जा सकता है। उसकी दूसरी विशेषता है जीवन को उच्च स्तर पर लेजाने वाले प्राणवान साहित्य की प्रचुरता। जैनमुनी निवृत्ति-प्रधान थे। वे किसी राजाओं आदि के आश्रित नहीं जिससे उन्हें बढ़ाकर चाटुकारी वर्णन करने की आवश्यकता होती। युद्ध में प्रोत्साहित कर ना भी उनका धर्म नहीं था और शृंगार रसोत्पादक साहित्य द्वारा जनता को कामोत्तेजित करना भी उनके आचार विरुद्ध था। अत उन्होंने जनता के उपयोगी और उनके जीवन को ऊंचे उठाने वाले साहित्य का ही निर्माण किया। चारणों का साहित्य वीर रस प्रधान है और उसके बाद शृंगार रस का स्थान आता है। भक्ति रचनाए' भी उनकी उच्च प्राप्त हैं। पर जैन साहित्य में नैतिकता और धर्म प्रधान है और शान्त रस की मुख्यता तो सर्वत्र पाई जाती है। जैन विद्वानों का उद्देश्य जन जीवन में आध्यात्मिक जागृति फूंकना था। नैतिक और भक्ति पूर्ण जीवन ही उनका परम लक्ष्य था।

उन्होंने अपने इस उद्देश्य के लिये कथानकों को विशेषरूप से अपनाया। तत्वज्ञान सूखा विषय है। साधारण जनता की वहां तक पहुंच नहीं और न उसमें उनकी रुचि व रस हो सकता है। उनको तो दृष्टान्तों के द्वारा धर्म का मर्म समझाया जाय तभी उनके हृदय को वह धर्म छू सकता है। कथा कहानी सबसे अधिक लोक-प्रिय होने के कारण उसके द्वारा धार्मिक-तत्त्वों का प्रचार शीघ्रता से हो सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने दान शील, तप और भावना एवं इसी प्रकार के अन्य धार्मिक व्रत-नियमों को स्पष्ट करने वाले कथानकों को उन्होंने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। इसके पश्चात् जैन-तीर्थंकरों एवं आचार्यों के गुणवर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक काव्यों का नंबर आता है। इससे जनता के सामने महापुरुषों के जीवन-आदर्श सहज रूप से उपस्थित होते हैं। इन दोनों प्रकार के साहित्य से जनता को अपने जीवन को सुधारने में एवं नैतिक तथा धार्मिक आदर्शों से परिपूर्ण करने में बड़ी प्रेरणा मिली।

राजस्थानी-जैन-साहित्य के महत्त्व के संबंध में दो बातें पहले कही जाचुकी हैं—(१) भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका महत्त्व, (२) १३ वी से १५ वी शताब्दी तक का जैनेतर राजस्थानी स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है उनकी पूर्ति राजस्थानी-जैन-साहित्य करता है। अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा के विकास के सूत्र राजस्थानी-जैन-साहित्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि जब से राजस्थानी भाषा में ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ तबसे प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की जैन-रचनायें उपलब्ध है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि जैनेत्तर राजस्थानी रचनाओं की प्रतियाँ समकालीन लिखी हुई प्राप्त नहीं होती, जबकि राजस्थानी की जैन रचनाओ की तत्कालीन लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। लोक भाषा में रचे हुए ग्रंथों की भाषा की प्रमाणिकता के संबंध में तत्कालीन प्रतियों की अनुपलब्धि से सठीक कुछ कहा नहीं जा सकता। क्योंकि लेखकों द्वारा भाषा और बहुत बार तो पाठ एवं शब्दों में परिवर्तन कर दिया जाता है। लोकप्रिय प्रसिद्ध ग्रंथों में तो समय-समय पर परवर्ती लेखकों द्वारा पाठप्रक्षेप रूप परिवर्तन होता ही रहता है। मौखिक साहित्य के संबंध में यह बात और भी विशेष रूप से लागू होती है। जैन-भंडारों में जो हस्तलिखित प्रतियें उपलब्ध है उनमें से आधिकांश सुशिक्षित मुनियों के द्वारा लिखी होने से शुद्ध भी विशेष रूप से मिलती हैं।

जैन-विद्वानों ने स्वय ग्रंथ निर्माण करने के साथ साथ दूसरों के रचे ग्रथों पर विशद टीकाए भी बनाई हैं। किसन रुकमणी वेलि को ही लीजिये—इस पर लाखा चारण की जैनेतर टीका एक ही उपलब्ध है, पर जैन विद्वानों द्वारा रचित ६।७ टीकाए प्राप्त हो चुकी हैं, जिनमें से दो टीकाए तो सस्कृत भाषा में भी हैं। इसी प्रकार हिंदी और सस्कृत के जैनेतर सर्वोपयोगी ग्रथों पर भी जैनविद्वानो ने राजस्थानी भाषा में टीकाए' लिखी हैं। उदाहरणार्थ — सस्कृत के भर्तृहरि शतक, अमरु शतक, लघुस्तोत्र, सारस्वत व्याकरण आदि पर जैन यतियों द्वारा रचित राजस्थानी टीकाए प्राप्त हे। भर्तृहरिशतक की तो रूपचद और लक्ष्मी वल्लभ की दो टीकाए हैं। हिंदी ग्रथों में से रसिक प्रिया पर कुशलदेव की ओर केशवदास के नख-शिख की राजस्थानी टोका उपलब्ध हैं अनेक राजस्थानी ग्रन्थों को बचा रखने का श्रेय भी जैनविद्वानों को ही है। जैसे—वीसलदेव रासो का उपलब्ध समस्त प्रतियाँ जैन यतिओं की लिखित ही हैं। जैनेत्तर रचित एक भी प्रति कहीं प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार हमारे सग्रह में बीकानेर के राव जैतसी संबधो ऐतिहासिक ग्रथ जैतसी रासो की दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जबकि इस ग्रग की अन्य एक भी प्रति जैतसी के वशज अनूपसिंह जी की विशिष्ट लायब्रेरी में भी प्राप्त नहीं है।

चारण साकुर कवि रचित 'वच्छावत - वशावली' चारण रतनू कृष्णदास रचित 'रासा विलास' नाम के ऐतिहासिक काव्य एवं हमीर रचित राजस्थान का छद ग्रन्थ 'लखपत गुण पिंगल' इसी प्रकार जैनतर राजस्थानी ग्रन्थों की प्रतियें जैन - भण्डारों में ही सुरक्षित मिलती हैं। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंहजी का मन्त्री लधराज रचित कई ग्रन्थों की प्रतियें हाल ही जैन भण्डारों से प्राप्त हुई हैं। जिनकी अन्य प्रतियें जोधपुर के राजकीय सग्रहालय आदि में कहीं नहीं हैं। भागवत के राजस्थानी - गद्यानुवाद की सचित्र प्रति भी जैन यति द्वारा लिखित हमारे सग्रह में प्राप्त है।

कवि हालू रचित 'वेताल पच्चीसी', चित्र वस्ता रचित 'विक्रम परकाय प्रवेश' कथा। दुरह रचित 'विल्हण चरित चौपाई' लाल रचित विक्रमादित्य चौपाई आदि और भी अनेक जैनेतर राजस्थानी ग्रन्थ जैन भण्डारों में ही प्राप्त हैं। प्राचीन चारण आदि कवियों के पद्यों के सरक्षण का श्रेय भी जैन विद्वानों को ही है।

प्रवन्ध चिन्तामणि, कुमारपाल प्रतिबोध, उपदेश तरंगिणी आदि ऐतिहासिक प्रबन्ध ग्रन्थों में वे उद्धृत पाये जाते हैं।

जैन विद्वानों की साहित्य सृजन एवं संरक्षण में सदा से बड़ी उदार नीति रही है। वे बड़े साहित्य प्रेमी होते थे। जैन-जैनेतर के भेदभाव के बिना कोई भी उपयोगी ग्रन्थ किसी भी भाषा में किसी भी विषय का रचा गया हो, उसे वे कहीं देख लेते तो प्रतिलिपि करके अपने भण्डारों में रख लेते थे। स्वंय विद्वान होने के कारण वे उसकी जी जान से रक्षा करते थे। इसी कारण जब कि जैनेतर संग्रहालय बहुत थोड़े से ही सुरक्षित मिलते हैं, तब जैन ज्ञान भंडार सैंकड़ो की संख्या में यत्र-तत्र सुरक्षित अवस्था में प्राप्त हैं। राजस्थान को ही लीजिये—यहां अब भी लक्षाधिक हस्तलिखित प्रतियें जैन ज्ञान भंडारों में सुरक्षित हैं। जिनमें जैसलमेर का भंडार ताड़पत्रीय प्राचीन प्रतियों एवं अन्यत्र ग्रंथों के संग्रह के रूप में विश्वविदित हैं। इस भंडार में १० वीं शताब्दी की ताड़पत्रीय एवं १३ वीं शताब्दी की कागज पर लिखित प्रतियें प्राप्त हैं। इतनी प्राचीन ताड़पत्रीय व कागज़ पर लिखी प्रतियें भारत भर के किसी जैन भंडार में उपलब्ध नहीं है। इनमें केवल जैन ग्रंथ ही नहीं—, भगवद्गीता, सांख्य सप्तति, न्याय वार्त्तिक, जयदेव छंद, लीलावती प्राकृत कथा एवं अन्य पचासेक जैनेतर ग्रंथों की प्राचीनतम ताड़पत्रीय प्रतियें सुरक्षित हैं। प्रतियां की संख्या की बहुलता की दृष्टि से बीकानेर के जैन ज्ञान भंडार भी उल्लेख योग्य हैं। इन भंडारों में ४०००० प्रतियें हैं ।

एक भ्रान्त धारणा का उन्मूलः—

हमारे बहुत से विद्वानों की यह भ्रान्त धारणा है कि जैन साहित्य जैन धर्म से ही संबंधित है। सर्वोजनोपयोगी साहित्य नहीं है। पर यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। वास्तव में जैनसाहित्य की जानकारी के अभाव में ही उन्होंने यह धारणा बना रखी है। इसीलिये वे जैन साहित्य के अध्ययन से उदासीन रह कर मिलने वाले महान् लाभ से वंचित रह जाते हैं उदाहरणार्थः—जैन विद्वानों ने ऐतिहासिक साहित्य भी बहुत लिखा है। उसकी जानकारी के बिना भारतीय इतिहास सर्वांगपूर्ण लिखा जाना असंभव है। राजस्थान के इतिहास में ही लीजिये यहां के इतिहास से संबंधित जैन ग्रन्थ अनेक हैं। उनके सम्यक् अनुशीलन के

अभाव मे बहुतसी जानकारी अपूर्ण एव भ्रान्त रहजाती है। इसी प्रकार गुजरात के इतिहास के सब से अधिक साधन तो जैन विद्वानों के रचित ऐतिहासिक प्रबन्ध आदि ग्रन्थ ही हैं। राजस्थान के प्राचीन ग्रामों की प्राचीन शौध जब भी की जायगी, जैन विद्वानों के यात्रा वर्णन, विहार, तीर्थ यात्रा, धर्म प्रचार आदि के उल्लेख वाले ग्रन्थों का उपयोग बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। राजस्थानी जैन साहित्य में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो जैनधर्म के किसी भी विषय से सबधित न होकर सर्वजनोपयोगी दृष्टि से लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ दो चार ग्रथों का निर्देश ही यहा काफी होगा। कवि दलपत विजय ने 'खुमाणरासो' नामक ग्रन्थ रचा। उसमें उदयपुर के महाराणाओं का यथाश्रुत इतिवृत्त सकलित है। इसमें जैनों का सबध कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार हेमरत्न और लब्धोदय आदि ने गोरा बादल और पद्मावती आख्यान पर रास बनाये हैं जोकि सब के लिये समान उपयोगी हैं। जैन कवि कुशल लाभ ने 'पिंगलाशिरोमणि', राज सोम ने दोहा चद्रिका आदि राजस्थानी छद सबधी ग्रथ बनाए है। कुशललाभ ने तो जिसका जैनों के लिये कुछ भी उपयोग नहीं है वैसा देवी सातसी ग्रन्थ बनाया है। इसी प्रकार सोमसुन्दर नामक यति ने जैनेतर पुराणो में उल्लिखित एकादशी कथा पर काव्य बनाया है। विद्याकुशल एव चारित्र धर्म ने राजस्थानी भाषा में सुन्दर रामायण बनाई है जिसमें उन्होंने जैनाचार्यों द्वारा लिखित रामचरित का उपयोग न कर वाल्मीकि रामायण का ही आधार लिया है। अर्थात जैन राम कथा की उपेक्षा करके सर्व-जन प्रसिद्ध राम कथा को प्रचारित की है। इस बात को विशेष स्पष्ट करने के लिये मैं छोटी बड़ी पचासों रचनाओं की ऐसी सूची यहा नीचे दे रहा हू जो सब के लिये समान रूप से उपयोगी है।

१ व्याकरण:—

बाल शिक्षा, उक्ति रत्नाकर, उक्ति समुच्चय, कातत्र बालावबोध, पचसधि बालावबोध, हेम व्याकरण भाषा टीका, सारस्वत बालावबोध,

२ छद:—

पिंगल शिरोमणि, दूहा चद्रिका, राजस्थानी गीतों का छद ग्रन्थ, वृत्तरत्नाकर बालावबोध

३ अलंकार:—

वाग्भट्टालंकार बालावबोध, विदग्धमुखमंडन बालावबोध, रसिक प्रिया बालावबोध

४ काव्य:—

भर्तृहरिशतक भाषाटीकाद्वय, अमरुशतक, लघुस्तव बालावबोध, किसन-रुकमणी बेलिकी ६ टीकाएं, धूर्त्ताख्यान कथासार, कादंबरी कथासार।

५ वैद्यक:—

माधवनिदान टब्बा, सन्निपातकलिका टब्बाद्वय। पथ्यापथ्य टब्बा, वैद्य-जीवन टब्बा, शतश्लोकी टब्बा, फुटकर प्रयोगों के संग्रह तो राजस्थानी भाषा में हजारों पत्र हैं।

६ गणित:—

लीलावती भाषा चौपाई, गणितसार चौपाई

७ ज्योतिष:—

लघुजातक वचनिका, जातक कर्म पद्धति बालावबोध, विवाह पडला बालावबोध, भुवन दीपक बालावबोध, चमत्कार चिंतामणि बालावबोध, मुहूर्त्त चिन्तामणि बालावबोध, विवाह पडल भाषा, गणित साठीसो, पंचांगानयन चौपाई, शकुन दीपिका चौपाई, अंगफुरकन चौपाई, वर्षफलाफल सज्झाय,

हीरकलश-राजस्थानी दोहों आदि में ज्योतिष संबंधी अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १६५७ में हीरकलश खरतर गच्छीय जैन यति ने की है। पत्र सं० १००० के लगभग है। सारा भाई मणिलाल नवाब ने गुजराती विवेचन के साथ अहमदाबाद से प्रकाशित भी कर दिया है।

८ नीति:—

चाणक्य नीति टब्बा, पंचाख्यान चौपाई, मखलाक अलमोहुस्नै-इस फारसी ग्रन्थ का अनुवाद 'नीतिप्रकाश' के नाम से मुहणोत संग्रामसिंह रचित उपलब्ध हुआ है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पंचाख्यान का गद्य में अनुवाद भी मिला है, जिसकी भाषा भी बहुत सुन्दर है।

९ ऐतिहासिकः—

मुहणोत नैणसी की ख्यात तो राजस्थान के इतिहास के लिये अनमोल ग्रथ है यह सर्व विदित है मुहणोत नैणसी भी जैनश्रावक थे। इन्होंने मारवाड के ग्रामो के सबध मे एक और भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा था, जिसकी प्रति उनके वशज वृद्धराज जी के भतीजे सुधराज जी मुहणोत के पास है। इस ग्रथ को प्रकाश मे लाना अत्यन्त आवश्यक है। नैणसी की ख्यात का कुछ अश मूल रूप से प० रामकर्णजी आसोपा ने दो भागों में प्रकाशित किया है। अभी उसका एक सुन्दर सस्करण राजस्थान पुरातत्व मदिर से छपना प्रारभ हुआ है जिसका सपादन श्री बदरीप्रसाद साकरिया कर रहे हैं। राठौड़ अमरसिंह की बात भी सम कालीन जैन यतिलिखित मेरे सग्रह में है। जिसे मैंने भारतीय विद्या मे प्रकाशित कर दिया है। राठोड़ो की ख्यात और वशावलियें जैनयतियो द्वारा लिखित प्राप्त हैं। जोधपुर के कई गावों की उपजसबधी हकीकत जैपुर के श्री पूज्यजी के पास है जिसकी प्रतिलिपि मेरे संग्रह में है। बाडमेर के यति इन्द्र चन्द्र जी के सग्रह में वेगड़ गच्छीय जिन समुद्र सूरि रचित राठोड़-वशावली मैंने देखी थी जो अब नष्ट होगई होगी। खुमाणरासो गोराबादल चौपाई, जैतचद्र प्रबध चौपाई आदि ग्रथ विशुद्ध ऐतिहासिक तो नहीं, पर लोका पवाद के आधार से रचित अर्द्ध ऐतिहासिक हैं। कर्मचन्द्र वश प्रबध चौपाई से बीकानेर के इतिहास की कई बातें विदित होती हैं। जैनाचार्यों, श्रावकों, तीर्थों, देश नगर वर्णन सबधी ग्रन्थ मे सार्वजनिक अनेक ऐतिहासिक तथ्य सम्मिलित है। जैन गच्छों की पट्टावलियें भी राजस्थानी भाषा में लिखी गई हैं जो ऐतिहासिक और भाषा की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं। जैनेतर ख्यात एतिहासिक बातें, आदि की अनेक प्रतियें कई जैनभडारों में प्राप्त हैं।

१० सुभाषित सूक्तियां:—

राजस्थानी साहित्य मे दोहों की संख्या बहुत ही अधिक है। दसबीस हजार दोहे इकट्ठे करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। ये दोहे मुक्तक छद हैं। इनमें से बहुत से तो अत्यन्त लोक प्रिय हैं। जो राजस्थान के जन जन के मुख व हृदय मे रमे हुए हैं। कहावतों के तौर पर उनका उपयोग पद पद पर किया जाता है। ये दोहे सभी रसो के हैं और सब के लिये समान रूप से उपयोगी हैं। जैन विद्वानों ने भी प्रासगिक विविध विषयक राजस्थानी सैकड़ों दोहे बनाये हैं। केवल जस-

राज (जिनहर्ष) के ही ३०० से अधिक दोहे हमने संग्रहीत किये हैं। इसी प्रकार ज्ञानसार जी आदि और कई कवियों के दोहे उपलब्ध हैं।

११ बुद्धिवर्धकः—

हीयाली, गूढ़े, आदि सैकड़ों की संख्या में जैन विद्वानों के रचित प्राप्त हैं। जो बुद्धि की परीक्षा लेते हुए उसको बढ़ाते हैं। पचासेक ही पालियों का मैंने सुन्दर संग्रह कर रखा है। जिनमें से कुछेक को बहुत वर्ष पूर्व 'जैन-ज्योति' में प्रकाशित की थीं।

१२ विनोदात्मकः—

ऊंदररासो, मोकणरासो, माखियों रो कजियो, जती जंग, आदि बहुत सी विनोदात्मक रचनाएं प्राप्त हैं।

१३ कुव्यसननिवारकः—

भांगरास, अमलरास, वृद्ध विवाह निवारक बूढरास, सप्तव्यसन निषेध गीत, तमाखूनिषेध, तमाखू परिहार गीत आदि बहुत से कुव्यसनों के निवारक साहित्य प्राप्त हैं।

१४ शिक्षाप्रदः—

बुद्धि रासो, सवासौ सीख, मूर्ख बहोत्तरी, आदि शिक्षाप्रद रचनाएं हैं।

१५ औपदेशिकः—

सर्व सामान्य धर्म एवं नैतिक नियमों को उपदेशित करने वाले बावनी बत्तीसी आदि संज्ञक बीसों जैन-राजस्थानी रचनाएं हमारे संग्रह में है। बावनी संज्ञक रचनाएं अधिकतर वर्णमाला के ५२ अक्षरों के क्रमशः प्रारंभिक पद वाले हैं। ये १३ वीं शताब्दी से रची जाने लगीं। उनमें से मात्रिका बावनी, दोहा मात्रिका आदि प्राचीन रचनाएं, प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

१६ ऋतु काव्यः—

बारहमासे, चौमासे संज्ञक अनेक राजस्थानी जैन रचनाएं उपलब्ध हैं जो अधिकांश नेमिनाथ और स्थूलभद्र से संबधित होने पर भी ऋतुओं के वर्णन से

परिपूरित हैं। कुछ स्वतन्त्र रचनाएं भी उपलब्ध हैं, जिनमें से शृंगारसत भारतीय विद्या में प्रकाशित है। बसंत विलास तो बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। विद्वानों की राय में वह भी किसी जैन जती की रचित है। बारह मासों का प्रारम्भ १३ वीं शताब्दी से ही हो जाता है। सब से प्राचीन बारहमासा जिनधर्मसूरि बारह नांवउ है।

१७ वर्णनात्मकः—

राजस्थानी गद्य में तुकान्त गद्य-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण स्वरूप कई वर्णनात्मक ग्रंथ मुझे प्राप्त हुए है। १५ वीं शताब्दी से उनका प्रारम्भ होता है। स१४ माणिकसुन्दर रचित पृथ्वी चन्द्र चरित्र अपरनाम वाग्विलास नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है जो वर्णनात्मक ग्रन्थों मे सर्व श्रेष्ठ, है। ऐसा तुकान्त सुन्दर वर्णन अन्यत्र कम है। मुझे पाँच स्वतंत्र वर्णनात्मक ग्रन्थों की प्रतियें मिली हैं। जिनमें तीन अपूर्ण हैं। उनमें भी विविध विषयों का वर्णन बहुत ही मनोहर है। इनका परिचय मैं शीघ्र ही स्वतन्त्र लेख द्वारा राजस्थान भारती में प्रकाशित कर रहा हूँ। अभी अभी मुनि जिनविजयजी से १७ वीं शताब्दी के सुकवि सूरचन्द्र रचित पदैक विंशति नामक ग्रंथ की एक अपूर्ण प्रति प्राप्त हुई है। ग्रन्थ संस्कृत में है, पर प्रासांगिक वर्णन राजस्थानी गद्य में ही दिया है, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ की पूर्ण प्रति प्राप्त होने पर इसका महत्व भली भाँति विदित हो सकेगा। पद्य में दुष्काल वर्णन, शीत-ताप वर्णन आदि रचनायें प्राप्त हैं

१८ सम्वादः—

सम्वाद संज्ञक जैन रचनाओं में बहुतसों का संबंध जैनधर्म से नहीं है। कवियों ने अपनी सूझ एवं कवि प्रतिभा का परिचय अच्छे रूप से दिया है। मोती-कपासिया सम्वाद, जीभ-दांत सम्वाद, आंख कान सम्वाद, उद्यम कर्मसंवाद, यौवन जरासम्वाद, लोचन काजल सम्वाद, आदि रचनाएं उल्लेख योग्य हैं।

१९ देवियों के छंदः—

लोकमान्य कई यक्ष, शनिश्चर आदि ग्रह, त्रिपुरा आदि देवियों की स्तुति रूप छंद, जैन जतियों द्वारा रचित बहुत से मिलते हैं। उन देवी देवताओं का जैन धर्म से कोई संबंध नहीं है। रामदेवजी, पाबूजी, सूरजजी और अमरसिंहजी आदि की भी प्रचुर रचनाएं हैं।

२० लोकवार्तायें संबंधी ग्रन्थः—

लोक-साहित्य के सरक्षण में जैन-विद्वानों की सेवा अनुपम है। सैकड़ों छोटी मोटी लोक वार्ताओं को उन्होंने अपने ग्रन्थों में संगृहीत की हैं। एक-एक लोक वार्त्ता के संबंध में संस्कृत एवं लोक भाषा में उनके बहुत से ग्रंथ उपलब्ध हैं। बहुतसी वार्त्ताएं तो यदि वे नहीं अपनाते तो विस्मृति के गर्भ में कभी की विलीन हो जातीं। यहां राजस्थानीभाषा में रचित फुटकर लोकवार्त्ताओं की सूची दी जा रही है:—

अंबड चरित्र कर्त्ताः—विनयसमुद्र, रूपचंद्र,
कर्पूर मंजरी „ मतिसार,
गोराबादल „ हेमरत्न, लब्धोदय,
चंदनमलयागिरि „ भद्रसेन, क्षेमहर्ष, जिनहर्ष, सुमतिहंस, यशोवर्धन,
ढोलामारू „ कुशललाभ,
नंदबत्तीसी चौपाई „ जिनहर्ष,
पनरहवीं कलारास „ वीरचंद,
पंचाख्यान „ वच्छराज, हीरकलश,
प्रियमेलक „ समयसुन्दर, मानसागर,
भोज चरित्र-कर्त्ता—मालदेव, सारंग, हेमानंद, कुशल धीर,
माधवानलकामकंदला „ कुशललाभ,

विक्रम चरित्र—'महाराजा विक्रम की दानशीलता, पराक्रम, एवं बुद्धि-चातुर्य लोक साहित्य में सबसे अधिक प्रचारित है। भारतीय प्रत्येक भाषा में विक्रम सबंधी लोक कथाओं का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। मरु-गुर्जरी भाषा में भी करीब ४५ रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं। यहां उनमें से थोड़ी सी राजस्थानी रचनाओं का ही उल्लेख किया जारहा है। विशेष जानने के लिये मेरे 'विक्रमादित्य संबंधी जैन साहित्य' विक्रम स्मृति ग्रंथ में देखना चाहिये।

विक्रम चौपाई-कर्त्ता— हेमाणंद मुनिमाल,
पंच दंड चौपाई—„ विनयसमुद्र, लक्ष्मी वल्लभ, लाभ वर्धन,
सिंहासन बत्तीसी „ मलयचन्द्र, ज्ञानचन्द्र, विनयसमुद्र, हीरकलश विनय लाभ,
फाफरा चोर चौपाई „ राजशील, अभय सोम, लाभ वर्धन,
लीलावती चौपाई „ कक्कसूरि शिष्य, कुशललाभ,

विद्याविलास कथा-कर्त्ता— हीरानद सूरि, आज्ञासुदर, आनद उदय, राजसिंह जिनहर्ष, यशो वर्धन,

विल्हण पचाशिका " ज्ञानाचार्य, सारग,

शशिकला चौपाई " ज्ञानाचार्य,

शुकबहोत्तरी " रत्न सुन्दर, रत्न चन्द,

शृंगार मजरी चौपाई " जयवंत सूरि,

स्त्री चरित्ररास " ज्ञानदास,

सगालसारास " कनक सुदर,

सदयवत्स सावलिंगा चौपाई " केशव,

कानड कठियारा चौपाई " मानसागर,

रतना हमीर री बात, " उत्तम चद भडारी,

राजा रिसालू की बात " आणद विजन

लघु वार्ता समह " कीर्ति सुदर

लोक वार्त्ताओं के अतिरिक्त लोक गीतों को भी जैन विद्वानों ने विशेष रूप से अपनाया है। लोक गीतों की रागिनियों (ढाल, देशी आदि) पर भी उन्होंने अपने रास, स्तवन आदि अधिकाश रचनाए की हैं। उन रचनाओं के प्रारम्भ करने के पहले जिस लोक गीत की देशी में वह गाई जानी चाहिये उस लोक गीत की प्रारभिक पक्ति देदी है। हजारों लोक गीतों का पता इस निर्देशन से ही मिल जाता है। कौनसा लोकगीत कितना पुराना है-उसका प्रारभिक स्वरूप क्या था, उसकी लोकप्रियता कितनी अधिक थी-इन सब बातों का पता लग जाता है। कुछ लोकगीतों को तो उन्होंने पूरे रूप से ही लिख रखा है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसे लोकगीतों की देशियों की सूची श्रीयुत मोहनलाल दलीचद देसाई ने बडे परिश्रम से तैयार करके अकारादि क्रम से 'जैन गुर्जर कवियों' भाग३ के परिशिष्ट न८ ७ म पृ० १८३३ से २१०४ तक में दी हैं। इन देशियों की सख्या २५०० के लगभग है। जिनमें से आधे के करीब तो राजस्थानी लोकगीतों की है। २१ जैनतरों के मान्य ग्रन्थों पर भी जैन विद्वानों ने कुछ ग्रथ बनाये हैं जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। वेतालपचीसी, एकादशी कथा, रामायण इनमें मुख्य हैं। और भी जैनेतर मत्र आदि लोकोपयोगी विषयों पर फुटकर साहित्य बहुत कुछ जैन-यतियों द्वारा लिखा मिलता है।

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि राजस्थानी जैन साहित्य जब इतना विविध, विशाल एवं महत्त्वपूर्ण है तो उसकी आज तक यथोचित जानकारी क्यों नहीं प्रसिद्ध हुई? कारण स्पष्ट है कि जैन मुनि एवं श्रावलोक अपने धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे हैं। साहित्य-प्रेम और अपने साहित्य के महत्व के संबंध में प्रकाश डालने की प्रवृति उनमें बहुत कम देखने मे आती है और जैनेत्तर विद्वानो मे बहुत से तो साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति के कारण जैनसाहित्य के अन्वेषण एवं अध्ययन में रुचि नहीं रखते कुछ निष्पक्ष विद्वान हैं,- उन्हें प्रथम तो सामग्री सुगमता से प्राप्त नहीं होती, दूसरा जैन साहित्य साम्प्रदायिक विशेष है- इस धारणा के कारण वे उसकी प्राप्ति का अधिक प्रयत्न भी नहीं करते। यद्यपि जैन साहित्य बहुत विशाल परिमाण में प्रकाशित भी हो चुका है। उनका परिचय पाने के साधन भूत ग्रंथ भी काफी प्रकाशित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ-जैन विद्वानो के रचित प्राकृत भाषा संबंधी साहित्य के संबंध में प्रो० हीरालाल कापड़िया का 'पाइय भाषा अने साहित्य' नाम का ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। जैनागमों की आवश्यक जानकारी, उनके अन्यग्रंथ 'अर्हत आगमोन्' और A History of Cannonical Literature of the jains' दलसुख मालवणिया का 'जैन आगम' और डा० विमलचरण के अंग्रेजी में भी कई ग्रंथ प्रकाशित हैं। जैन अगमों की महत्त्वपूर्ण बातों के संबंध में डा० जगदीश चंद्र जैन का थीसिस भी अच्छा प्रकाश डालता है। संस्कृत जैन साहित्य के सम्बन्ध में डा० विन्टरनीज का इतिहास भी ठीक प्रकाश डालता है। वैसे स्वतंत्र समग्र साहित्य का परिचायक श्रीयुत् मोहनलाल दलीचंद देसाई का "जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास" तो अत्यन्त मूल्यवान् ग्रंथ है। २०।२५ वर्ष के कठिन परिश्रम से वह तैयार किया गया है और जैन इतिहास की झांकी भी उससे मिल जाती है। प्रो० वेलनकर का 'जिनरत्न कोश' ग्रंथ दिगंबर श्वेताम्बर दोनों संप्रदाय के प्राकृत-संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों की वृहत् सूची है।

जहां तक राजस्थानी जैन साहित्य का संबंध है—इसके महत्व एवं विशालता की जानकारी का प्रधान कारण यह है कि राजस्थानी और गुजराती दोनों भाषाओं की रचनाओं का विवरण 'जैन गुर्जर कवियों' में एक साथ ही छपा है। वैसे १६ वीं शताब्दी तक तो दोनों भाषायें एक ही थीं, अतः गुजरात वालों

ने इन्हें प्राचीन गुजराती की संज्ञा दी है। पर १७ वीं से तो दोनों भाषाओं में उल्लेखनीय अन्तर हो जाता है। अत उनकी भाषा का पृथक् उल्लेख करना आवश्यक था। मैंने यह सुझाव देसाई को दिया था और उन्होंने अपने ग्रंथ के तीसरे भाग में कुछ उपयोग भी किया है। देसाई ने अपने इस ग्रंथ के तीन भागों में सैकड़ों कवियों की हजारों रचनाओं का विवरण प्रकाशित किया है, पर ग्रंथ गुजराती लिपि में छपा है और 'जैन गुर्जर कवियों' के नाम से है, अत राजस्थान के विद्वानों का भी राजस्थानी जैन साहित्य के महत्व की ओर ध्यान अभी नहीं जा सका। वे भी जैन रचनाओं को गुजराती ही अधिक मानते हैं, पर वास्तविक बात यह नहीं है। इनका परिचय मेरे दूसरे भाषण से लग सकेगा।

राजस्थानी भाषा के जैन साहित्य से ही नहीं, जैनेतर प्राचीन साहित्य से भी हमारे विद्वान् उनके गुजरात में प्रकाशित होने के कारण अपरिचित रहे हैं। रणमल छन्द, कान्हड़दे प्रबन्ध, सदयवत्स प्रबन्ध, हसावली आदि १५ वी एव १६ वीं के प्रारम्भ की रचनाए जो गुजराती के नाम से प्रसिद्ध हैं, वास्तव में प्राचीन राजस्थानी की ही हैं।

राजस्थानी जैन साहित्य की उपयोगिता, विविधता एव विशेषता पर संक्षिप्त प्रकाश डालने के अनन्तर उसकी विशालता पर भी कुछ कह देना आवश्यक हो जाता है। संक्षेप में तो पहले यह कहा ही जा चुका है कि समग्र राजस्थानी साहित्य का सबसे बड़ा अंश जैनों द्वारा रचित है, और चारणों का साहित्य जो राजस्थानी भाषा का सबसे प्रधान साहित्य माना जाता है उससे भी अधिक विशाल है। इसका कुछ आभास निम्नोक्त बातों से मिल जायगा—(१) चारण आदि जैनेतर कवियों की रचना १८ वीं शताब्दी से मिलती है और वह भी १७ वीं शताब्दी के पहले की तो इनी गिनी ही हैं। जबकि इन मध्यवर्ती ८०० वर्षों में जैन विद्वानों ने निरन्तर राजस्थानी में रचना की है और वे छोटी मोटी शताधिक संख्या में हैं। पद्य साहित्य के साथ-साथ इस समय की गद्य रचनाएँ भी प्रचुर हैं। जबकि १५ वीं शताब्दी से पहले की जैनेतर गद्य राजस्थानी-रचना स्वतन्त्र रूप से एक भी प्राप्त नहीं है। केवल [illegible] ओझा की वचनिका [illegible] से उद्धरण मिलते हैं। जबकि इन ८०० वर्षों के करीब ५०। ६० ग्रन्थों के [illegible]

बड़े बालावबोध राजस्थानी गद्य में जैन विद्वानों के निर्मित प्राप्त हैं। खरतरगच्छीय विद्वान मेरु सुन्दर अकेले ने ही २० ग्रन्थों पर गद्य में बालावबोध-भाषा टीका लिखा है! जिनका परिमाण ३० । ४० हजार श्लोक के करीब का होगा। चारण आदि कवियों द्वारा ख्यातों का लेखन अकबर के समय से प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। गद्य-वार्ताएं तो अधिकांश १८ वीं शताब्दी में ही लिखी गई हैं।

(२) रचनाओं की संख्या पर दृष्टि डालने से भी जैनेतर-राजस्थानी साहित्य के बड़े २ ग्रन्थ तो बहुत ही थोड़े हैं, फुटकर दोहे एवं डिंगल गीत ही अधिक हैं। जब राजस्थानी जैन ग्रन्थों, रास आदि बड़े २ ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों हैं। दूहे और डिंगल-गीत हजारों की संख्या में मिलते हैं, उसका स्थान जैन विद्वान के स्तवन, सज्झाय, गीत, भास, पद आदि लघु प्रतियें ले लेते हैं, जिनकी संख्या हजारों पर हैं।

(३) कविओं की संख्या और उनके रचित साहित्य के परिमाण से तुलना करने पर भी जैन साहित्य का पलड़ा बहुत भारी नजर आता है। जैनेतर राजस्थानी साहित्य निर्माता मे दोहों व गीतों को छोड़ देने पर बड़े २ स्वतन्त्र ग्रंथ निर्माता कवि थोड़े से रह जाते हैं। और उनमें से भी किसी कवि ने उल्लेखनीय ५ । ४ बड़े २ और छोटे २ ३० २० रचनाओं से अधिक नहीं लिखा। राजस्थानी भाषा का सबसे बड़ा ग्रंथ वंश भास्कर है। जबकि जैन कवियों में ऐसे बहुत से कवि होगये हैं जिन्होंने बड़े बड़े रास ही काफी संख्या में लिखे हैं। यहां कुछ प्रधान कवियों का ही निर्देश किया जा रहा है।

(१) कविवर समयसुन्दर—आप राजस्थान के महाकवि हैं। प्राकृत संस्कृत भाषा में अनेकों रचनाएं लिखने के साथ २ राजस्थानी में भी प्रचुर रचनाएं निर्माण की हैं फुटकर स्तवन, सज्झाय गीत आदि की संख्या तो ३०० के लगभग प्राप्त है। वैसे सीताराम चौपाई राजस्थानी का जैन-रामयण है। यह यह ग्रन्थ ३७०० श्लोक प्रमाण है। इसके अतिरिक्त साम्ब प्रद्युम्न चौपाई, चार प्रत्येक बुधरास, लीलावतीरास, नलदमयंतीरास, प्रियमेलकरास, पुण्यसार चौपाई, वल्कलचीरीरास, शत्रुंजयरास, वस्तुपाल तेजपाल रास, थावच्चा चौपाई, क्षुल्लक कुमार प्रबंध, चंपक श्रेष्ठि चौपाई, गौतमपृच्छा चौपाई, धनदत्त चौपाई, साधुवंदना,

पुंजाऋषिरास, द्रौपदी चौपाई, केशी प्रबंध, दानादि चौढालिया एवम् समाछतीसी, कर्मछतीसी, पुण्यछतीसी, दुष्काल वर्णनछतीसी, सवैयाछतीसी, आलोयणा छतीसी, आदि २ राजस्थानी में बहुत से ग्रन्थ हैं।

(२) जिनहर्ष—इनका दीक्षा पूर्व नाम जसराज था। यह राजस्थानी के बड़े भारी कवि हैं। इन्होंने पूर्ववर्ती जीवन में राजस्थानी भाषा में और पीछे से पाटन चले जाने पर गुजराती मिश्रित भाषा में ५० के करीब रास एव सैकड़ों स्तवन आदि फुटकर रचनाएं की हैं। इनमें से कई रास तो बड़े २ काव्य हैं। आपकी समग्र रचनाओं का परिमाण एक लाख श्लोक के होगा।

(३) वेगड जिन समुद्रसूरि—इन्होंने भी राजस्थानी में बहुत से रास, स्तवन आदि बनाए हैं। जिनका परिमाण ५०। ६० हजार श्लोक के करीब होंगे। कई ग्रन्थ अपूर्ण मिले हैं।

(४) तेरापंथी जीतमल जी—इनका भगवती सूत्र की ढालें यह एक ही ग्रंथ ६० हजार श्लोक परिमाण है जो राजस्थानी का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। आपकी अन्य रचनाओं को मिलाने से परिमाण लाख श्लोक से अधिक का ही होगा। इस प्रकार ४।५ विद्वानों के ही जब तीन चार लाख श्लोक परिमित हो जाता है, तो समग्र राजस्थान जैन साहित्य का परिमाण १० लाख श्लोक परिमित होने मे कोई भी संशय नहीं। इतने विशाल साहित्य की उपेक्षा अवश्य ही अनुचित है। इन ग्रंथों में से चुने हुए उपयोगी ग्रन्थों की ग्रन्थमाला प्रकाशित हो तो जनसाधारण का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। उनका जीवनस्तर, इस प्राणवान साहित्य से प्रेरणा पाकर अवश्य ही उन्नतिशील हो सकता है। अभी जैनों को स्वय को भी ठीक महत्व ज्ञात नहीं है। राजस्थान का जैन समाज तो अब बहुत ही पिछड़ गया प्रतीत होता है और जैन समाज ही क्यों सारा राजस्थान का भी यही हाल है। निकटवर्ती गुजरात प्रान्त की कार्य प्रणालियों को देखते हैं और राजस्थान निवासियों के जीवन से उनकी तुलना करते हैं तो बड़ा ही अंधकार सा नजर आता है। कहा राजस्थान का अतीत गौरव और कहा हमारी वर्तमान अवस्था ? पड़ोसी प्रान्त को आगे बढ़ते देखकर हमारी चेतना सुप्त है, हृदय तंत्री झकृत नहीं होती—इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। पर केवल निराशा

से ही काम नहीं चलेगा। जिनके हृदय में टीस हो, आगे आकर प्रान्त के उद्धार का शंखनाद करना चाहिये। जन-जनमें, घर २ जागृति का शंख फूंके बिना भविष्य और भी अंधकारमय है।

राजस्थान के प्राचीन गौरव की झाँकी मेरे माननीय मित्र डा० दशरथ शर्मा मेरे साथ साथ ही करा रहे हैं। साहित्य और इतिहास के समृद्धिशाली युग का परिचय आप एक साथ पा रहे हैं—यह विद्यापीठ के कुशल संचालकों की सूझ का सुपरिणाम है। यदि इसी समय राजस्थानी शिल्प, स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, कारीगरी और संगीत-कला पर भी किसी अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रकाश डाला जाता तो यह आयोजन त्रिवेणी-संगम हो जाता। आशा है विद्यापीठ के संचालक राजस्थानी कला पर भाषण देने योग्य कोई 'महाराणा कुंभा आसन' जिन्होंने राजस्थानी शिल्प स्थापत्य को एवं संगीत को विश्व विदित करने में महत्वपूर्ण भाग लिया है-स्थापित कर इस संबंध में भी शीघ्र ही महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कराने वाले भाषणों का आयोजन करेंगे।

"राजस्थान की मौखिक संत-वाणी"

(लेखक मनोहर शर्मा एम०ए०, साहित्यरत्न, काव्य तीर्थ)

राजस्थान के साहित्य सशोधकों के लिए जितना आवश्यक यहा प्राचीन ग्रंथ भण्डारों का पर्यवेक्षण करना है उतना ही जरूरी यहाँ के मौखिक साहित्य का सकलन करना भी है। अभी तक इस प्रदेश में इन दोनों ही कामों के लिए कोई निश्चित योजना नहीं है। थोडी सी सूचनाओं से ही देश के बडे बड़े साहित्य-तपस्वियों ने राजस्थान के वीर साहित्य की मुक्त कठ से प्रशसा की है। यदि उनके सामने यहाँ का समग्र साहित्य प्रस्तुत हो तो वह अवश्य ही हमारे देश की एक धरोहर के रूप में गिना जावे। राजस्थानी साहित्य के अन्य अग भी कम महत्व पूर्ण नहीं हैं। अभी तक लोगों का ध्यान यहा की वीर रस सम्बन्धी रचनाओं पर ही गया है। परन्तु वीर रस के समान ही यहा का भक्ति सम्बन्धी साहित्य है। समालोचना की कमी के कारण राजस्थान के भक्त कवियों में मीरों के अति-रिक्त अन्य किसी कवि को समुचित आदर नहीं मिल पाया है। इस प्रदेश में काफी बडी सख्या में सत कवि हुए हैं और उनकी वाणियाँ जनता के हृदय पर अधिकार जमाए हुए हैं। अभी तक उनका सकलन भी नहीं हुआ है। उनमें से अधिकांश मौखिक रूप में ही परम्परा से चली आ रही हैं। समय पाकर वे नष्ट भी होती जा रही हैं जो कि इस प्रदेश का एक दुर्भाग्य है।

राजस्थानी के भक्ति सम्बन्धी साहित्य में निर्गुण भक्ति के पदों को "सबद" कहा जाता है। ये सबद राजस्थान की एक विशेष सम्पत्ति हैं। यहां के "जाग रणों" में सबद बहुत ज्यादा गाए जाते हैं। इनका प्रचार दूर दूर देहातों में भी बहुत ज्यादा है। लोग रात रात भर जाग कर सबद गाते रहते हैं और भक्ति रस

में अपनी आत्मा को मग्न कर लेते हैं। इस प्रदेश के जागरण अपनी एक विशेषता रखते हैं। इन जागरणों से जनता के जीवन में साहित्यिकता का संचार होता है और संत-स्वभाव ग्रहण करने के लिए उन्हें प्रेरणा मिलती है। भजनीक लोग वारी वारी से अपनी अपनी लगन पद गाते हैं और अन्य लोग उनका साथ देते है। पर्व के दिनों में तो गावों में जागरण अवश्य ही होते हैं। ये जागरण यहाँ के सामाजिक--जीवन के महत्वपूर्ण भाग हैं। इनमें जो सबद गाए जाते हैं, उनका विषय ईश्वर, जीव, माया, जीवन की नश्वरता, अभेद, धर्म और जाति के नामों की व्यर्थता, हठयोग, साधु जीवन, गुरु महिमा, सबद महिमा, मूर्ति पूजा विरोध, पतित प्रेम, उद्‌बोधन, उपदेश आदि रहते हैं। ये तत्व लोक-जीवन में जागरण की सहायता से रमते रहते हैं। साथ ही इन जागरणों से जनता का जीवन सरस भी रहता है।

इस में निर्गुण भक्ति के पदों पर ही ध्यान दिया गया है। सगुण भक्ति के पदों पर फिर कभी विचार किया जाएगा। निर्गुण भक्ति के पद रचने वाले संतों की यहाँ बड़ी संख्या है। भरथरी, मछन्दरनाथ, गोरखनाथ, कबीरदास आदि के नाम से भी यहाँ असंख्य पद गाए जाते हैं जिनकी भाषा राजस्थानी है। राजस्थान में प्रथा है कि अप्रसिद्ध कवि अपनी रचना को लोक प्रचलित करने के लिए उसे किसी समर्थ कवि की भेंट कर देता है और इस प्रकार समर्थ के नाम से वह जनप्रिय हो जाती है। पद के अन्त मे जहाँ कवि अपना नाम देता है, उसे राजस्थान में "भोग लगाना" कहा जाता है। प्रसिद्ध कवि तो अपनी रचना के साथ अपने नाम का ही भोग लगाता है परन्तु अप्रसिद्ध कवि किसी दूसरे कवि के नाम का भोग लगाता है। यही कारण है कि राजस्थान में तुलसीदास, कबीरदास एवं मीराँ के नाम के पद आकाश के तारों के समान छाए हुए हैं और उनमें से इन प्रसिद्ध कवियों की निजी रचना कोई ज्यादा नहीं है। यह तत्व भक्तहृदय की सरलता प्रगट करता है कि उसे नाम की चाह नहीं, वह तो केवल भक्ति का प्रचार चाहता है। इससे इतना जरूर होता है कि मौलिक साहित्य के शोधको के सामने एक समस्या आ खड़ी होती है जिसका कोई हल ही नही मिल सकता। फिर भी जनता में मधुर पदो का प्रचार तो हो ही जाता है। आवश्यकता इस बात की भी है कि इन पदों का भी संकलन अवश्य किया

जावे। इनके अलावा भी यहा बहुत ज्यादा सन्त हुए हैं जिनकी अपनी वाणी जनता मे रमी हुई है। ऐसे सन्तों में जिनकी गद्दिया स्थापित हो चुकी हैं, उनकी वाणी तो उनके स्थानो पर सुरक्षित मिल सकती हैं और वे छप भी गई हैं परन्तु अन्य सन्तो के बोल तो अभी जनता के मुख पर ही टिके हुवे हैं। इन सन्तों में सभी जातियों के लोग हुए हैं और उनकी साधना भी बहुत ऊँची है। कई के भाव एवं भाषा तो बड़ी ही सरस एव मधुर हैं। इनकी सरलता तथा मधुरता ने ही लोक हृदय पर अधिकार जमा रखा है।

यहा ऐसे सन्तो की वाणियों के चुने हुए नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनसे उनकी महत्ता की एक झलक प्रगट हो जायगी। साथ ही उन पदों के उदाहरण भी दिए जा रहे हैं जो प्रसिद्ध सन्तों के भेंट चढाए हुए से प्रतीत होते हैं।

भरथरी

कायापुर सोय, अवड़ा मारग देखो,
विखमी मारग भोलैं नाथ रा ॥ टेक ॥
काटे बिना काटो नहि निकसै, बिना कूंचि किसा ताला।
बिना सबद साधु नहि सुलझै, घट मैं घोर अँधारा ॥१॥
मनभँग चितभँग परबत कहिये, गहरी गहरी गगा गाजै।
बायर मेल्यां पून झिकोलै, भीतर काया छीजै ॥२॥
बासण ओछो बस्त घणेरी, कहो किसी विध घालै।
तामा वरणी तपै है धरतरी, थरहर काया हालै ॥३॥
साचा गरू सतवादी चेला, बैठ्या बिरछ धारी छार।
दोउ कर जोड़ भरतरी गावै, न्यावड़ी नैकरयो पार ॥४॥

मछंदरनाथ

क्या बोल्या रे अवधू क्या बोल्या,
धरण गगन बिच क्या बोल्या ॥ टेक ॥
ग्यान है न ध्यान वाकै, जोग है न जुगता।
पाप है न पुन जाकै, माया कोनी ममता ॥१॥
आनो है न जानो वाकै, मरबो है न जीबो।

काल़ कोनी खाय वांनै, माय कोनी बावो ॥२॥
साख है न डाल वांकै, वन है ना बेला ।
पान है न फूल वांकै, गरू है न चेला ॥३॥
बोलिया मछंदर जोगी, अवगत जाणी ।
जुग की जुगत कोई, जो विरला ही जाणी ॥४॥

गोरखनाथ

तन भर तो सुखिया अवधू कोई नहि देख्या,
जां देख्या जां ही दुखिया ए लोय ॥ टेक ॥
धरती तो दुखिया रै अवधू, अम्बर दुखिया,
दुखिया पून र पाणी ए लोय ॥ १ ॥
सूरज तो दुखिया रै अवधू, चँदरमा ही दुखिया,
तारां नै दुख दूणा ए लोय ॥ २ ॥
धिरमा तो दुखिया रै अवधू, बिसनू भी दुखिया,
संकर नै दुख दूणा ए लोय ॥ ३ ॥
जोगी तो दुखिया रै अवधू, जंगम दुखिया,
तपस्यां नै दुख दूणा ए लोय ॥ ४ ॥
राजा तो दुखिया रै अवधू, राणी भी दुखिया,
दुखिया नै दुख दूणा ए लोय ॥ ५ ॥
मछंदर सरणै जती गोरख बोल्या हे,
सुखिया विरम विचारयां ए लोय ॥ ६ ॥

गोपीचन्द

आज नगरिए मैं सहियो हरीजन देख्या ए,
गोपीचन्द कै दुणियारै ए लोय ॥ टेक ॥
सोनै रूपै की जोगी मँडिया चिणाद्य रै,
आसण लगाद्यूँ डोड्याँ कै मांही ए लोय ।
छाजां चोयारां हीरा रतन जड़ाद्यूँ ओ,
दरसण की बलिहारी ए लोय ॥ १ ॥

सोनो तो रूपो बाई म्हे घर को छोड्यो ए,
हीरा रतन अपारा ए लोय ।
हसती तो घुडला बाई म्हे छोड्या घुमता ए,
सोच समझ त्यागो माया ए लोय ॥ २ ॥

कुण तो ऐसा को जोगी राज करतो ओ,
कूण तुमारी माई ए लोय ।
कुण तो राजा को जोगी पुत्र कहीजे ओ,
कूण भाग्य घर भाई ए लोय ॥ ३ ॥

कुण तो दुखा सैं जोगी देसड़लो त्याग्यो ओ,
कूण दुखा सैं त्यागी नारी ए लोय ।
कुण तो दुखां सैं जोगी कान फड़ाया ओ,
कूण दुखां सैं मदरा पैरी ए लोय ॥ ४ ॥

गोड बँगालै को बाई म्हे राज करता ए,
माता माणादे म्हारी माई ए लोय ।
राजा तिलोकचन्द का पुत्र कहीजा ए,
बाई चन्द्रावल का म्हे भाई ए लोय ॥ ५ ॥

माता कै वचना सैं बाई म्हे देसड़लो त्यागो ए,
अमर होवण नै त्यागी नारी ए लोय ।
गरु कै वचना सैं बाई म्हे कान फड़ाया ए,
दरसण मदरा म्हे पैरी ए लोय ॥ ६ ॥

उठो ए दासी थे तो राय जगावो ए,
जलै तो हमारी या काया ए लोय ।
गोड़ बँगालै नै थे साँड्यो खिनावो ए,
जोगी तो करग्यो म्हाँसैं दावा ए लोय ॥ ७ ॥

गोड बँगालै में साँड्यो जाय र पूग्यो ए,
गोड़ बँगालो निलखाणो ए लोय ।
नर और नारी फिरै तो बिलखता,
माता कै मन भाई ए लोय ॥ ८ ॥

कबीरदास

हेली सुरत सुहागण नार, इता दिनां कुँवारी क्यूँ रही ।
सतगरू भेंटया नाँय, इता दिन यूँ रही ॥
हेली पूरणमासी की रैन, गई सतसंग में ।
सतगरू पकड़ी हो बाँह, भिजो दीनी रंग में ॥
हेली चढिए सतगरु की दुकान, ग्यान बुध लीजिए ।
मोह लोभ को जाल, हरी गुण गाइए ॥
बावल विपर बुलाय, लगन हेली लिखाइयो ।
बेगो करयो रै व्याय, ढील मत ल्याइयो ॥
हेली ममता का मूँग दलाय, हलदी हर नाँव की ।
तंत को तेल कढ़ाय, पीठी मलो प्रेम की ॥
हेली घणां दिनां को चाव, नयो ए नुहेलड़ो ।
नवल वनी कै सीस विराजै सेवरो ॥
हेली अरध उरध के बीच, चेतन चँवरी रूपी ।
सन्त पढ़ै निज नाँव, सुरत फेरां फिरी ॥
हेली बावल दियो ए दायजो, पदारथ च्यार को ।
गैणा तो ग्यान विचार, हीरो हर नाव को ॥
हेली मांमी छोड़ी ममसाल, भुवा दस वैनड़ी ।
छोड्यो है पीवरिए को लोग, पिए कै आगै खड़ी ॥
हेली घणा दिन रही लुभाय, वो'ला दिन वापकै ।
कर कै पिया जी को संग, चली घर आपकै ॥
हेली ओजुँ नहिं मिलणा होय, पिवरिए कै लोग सै ।
चली तो दिवानै देस, पुरवलै सँजोग सैं ॥
हेली लंघी ओघट वाट, कलप कन्ठ छेदिया ।
भँवर गुफा कै बीच निरन्जन भेटिया ॥
हेली आतम नार विचार, पुरस एक सार है ।
मंगल कथै है कबीर, सोई तो भरतार है ॥

रैदास

पून की चाल कोई मत चालणा, सैन गुरों की गम है न्यारी,
देखा रे देखो साधो भाई कोई नहि चालणा, डूब मरो होय नारी ।।टेक।।
भरत बास पर नटवो नाचे, सहज सुरत आँको लागी डोरी ।
सुत्यो म्हारो हँमलो चल्यो मोज पर, एक पलक में जुग हेरी ।। १ ।।
राजा जिनक जी आतम सोझी, राज करयो दुबरा नै टाली ।
एक हाथ में लानी सुमरणी, दूजे हाथ अगनी जाली ।। २ ।।
कोइ बतावै दूर नै किस्नपुरी में, सैस गोप्यों के सागै गिरधारी ।
सत बतावै साधो घट कै माही, परगट जोत जाकी उजियारी ।। ३ ।।
अपणें साध का रलमिल चालो, उजल अरथ का अधिकारी ।
अपणें गुरा का मद रस भरिया, खप्पर में भया एकोकारी ।। ४ ।।
साधू होय समझ सैं चालै, वाँ सताँ की मैं बलिहारी ।
कहै रिवदासो इण जुग में आयो, ख्याल करो होय हुसियारी ।। ५ ।।

मीरॉबाई

ऊंची मीरा सावलड़ी सा नार, गारा बिच क्यूँ खड़ी,
के तो तेरो पीवर दूर क, के सासु लड़ी ।
चल्यो जा रे अमल गिंवार, मेरी तो तन्नैं के पड़ी,
राम गया बनवास, सँदेसो हर को क्यूँ खड़ी ।
म्हे थानें मीरा बूझा एक बात, बुरो मत मानियो,
राम गया बनवास थारो तो काई ले गया ।
लेग्या हरजी सोला सिणगार, छिवडै कै ताळो दे गया,
जड़ग्या जड़ग्या सजड़ किंवाड़, जाबा तो ताली ले गया ।
उड़ म्हारा हरिए बन का काग, सोनै की थाड़ी चोंचड़ी,
राम मिलण कद होय, फरूकै म्हारी आँखड़ी ।
म्हे थानै मीरा बूझां एक बात, बूरो मत मानिए,
कण थानै दीनी सिख बुद्ध, कण दीनी सगत साध की ।
गरू म्हारा सुघगट सुनार, हीरा रा कहिए पारखी,
वाँ म्हानै दीनी सिख बुद्ध, दीनी है सगत साध की ।

लाग्यो ए मीरां बखिरा को रोग, काया ए थारी काँच सी,
ओखद हरजी को नाँव, सुमरो ए दिन में मासतो।

सदन कसाई

अपणै घट में सोच समझ,
दुख पावै ज्यान मेरी नाथ विना, जगनाथ विना ॥ टेक ॥
आई जुवानी भयो दिवानो, वल तोलै हसती उतणा।
जम का दूत पकड़ ले ज्यासी, जोर न चालै तिल जितणा ॥ १ ॥
भाई रै भतीजा कुटम कबीलो, या है झूठी जग अपना।
कई वर पूत पिता घर जलम्या, कई वर पूत पिता अपणा ॥ २ ॥
कुण सँग आया कुण सँग जासी, सब जुग जासी साथ विना।
हँसलो बटावू तेरो यो रम ज्यासी, खोड़ पड़ी रैगी साँस विना ॥ ३ ॥
लाखं सरीसा लख घर छोड्या, हीरा मोती और रतना।
आप की करणी पार उतरणी, भजन बणाया कसाई सदना ॥ ४ ॥

रामदेवजी

ग्यान ध्यान का भवरख दिवला,
जुग जागो म्हारा भाईया ॥ टेक ॥
आप सुवारथ सब जग राच्या, परमारथ कुण राच्या, ओ बाबा जी।
भली बुरी न एकै पासै, रालो रै बीरा ॥ १ ॥
ओछै जल का नाडिया धारी, तिसना कदे ए न भागी, ओ बाबा जी।
मोहमाया रा मोहया माणसिया, बुध हीणा रै बीरा ॥ २ ॥
हाथां लियां भनरख दिवलो, मारगियो ना सूझै, ओ बाबा जी।
रैन अँधेरी कारणे, कैसे आवुं रै बीरा ॥ ३ ॥
आस्योजां का मेवड़ा, समदियाँ मै वूठ्या, ओ बाबा जी।
रतनागर मैं माँजा मोती, निपजै रै बीरा ॥ ४ ॥
सबरां मैं टीकयत सिध, रामदेव जी बोल्या, ओ बाबा जी।
हाथां लाधो माणकियो, मत खोवो रै बीरा ॥ ५ ॥

रूपांदे

मद्दी मद्दी दिवले री लोय म्हारा वीरा रै,
दिन की उगाली हरीजन मिल्या ॥ टेर ॥
सुगरॉं सै करणा सनेह म्हारा वीरा रै,
सुगरॉं माणस म्हानै नित मिलो ।
नुगरॉं सै किसा सनेह म्हारा वीरा रै,
नुगरा माणस म्हानै मत मिलो ॥ १ ॥
बुगला स किसा सनेह म्हारा वीरा रै,
वन मै वसै माटी भखे ।
हँसला सैं करणा सनेह म्हारा वीरा रै,
हँसला तो मोती चुगै ॥ २ ॥
डोनलइयॉं सैं किसा सनेह म्हारा वीरा रै,
वरसता सूकी र वै ।
समदॉं सै करणा सनेह म्हारा वीरा रै,
समद अभोला ले रहया ॥ ३ ॥
कागा सै किसा सनेह म्हारा वीरा रै,
काग कुलाटॉं कर रहया ।
कोयल्यॉं सै करणा सनेह म्हारा वीरा र,
कोयल टहूका कर रही ॥ ४ ॥
साधॉं सै करणा सनेह म्हारा वीरा रै,
साध सबद का पारखी ।
रूपादे गावै उगमजी की चेली म्हारा वीरारै,
म्हारै गरवॉं को अमरा पर वासो ॥ ५ ॥

धारूजी मेघवाल

पाप धरम दोनूँ छाना न रै' गा,
बूठेड़े की बातां बटाउड़ा कहला
साचा हरीजन कहला जी ॥ टेक ॥
नीम जिसा कड़वा, गुड़ जिसा मीठा,

ऐसा मेरा आलम राजा समरथ दीठा ॥ १ ॥
गुरां तो विहूणा चेला ग्यान हलावै,
करणी का कूड़ा वंदा जुग भरमावै ॥ २ ॥
पराई माया लूंण ल्याया मांयलै में विलसै,
साँई कै दरबार पांच पाछा रिगसै ॥ ३ ॥
दूधां धोया कोयला ऊजला न होगा,
काग के गल् पुहप माला हँसला न होगा ॥ ४ ॥
काचै तागै सिल्या बाँधी भूँवती न दीसै,
बोलै धारू मेघवाल् करै सोई धींसै ॥ ५ ॥

समरथ

आज म्हारा भाग जाग्या, भलो उग्यो भाण री,
साध आया पावणा, छूट गया जम डाण री ॥टेक॥
साध आया आणँद छाया, आँगणिए घमसाण री !
ग्यान गोला छूटण लाग्या, टूट गई कुल् काण री ॥ १ ॥
ऊंची मैड़ी उलटी पैड़ी, जांकी पड़ी पिछाण री ।
झिलमिल है दीदार वांको, क्या करुं बखान री ॥ २ ॥
सब्द सुणिया भला भणिया, आ गयो अपाण री ।
करम भरम बेकार भाग्या, तीर लाग्यो ताणरी ॥ ३ ॥
नां कही आणा ना कही जाणा, दिल विच उग्यो भाण री ।
गरु सरणै समरथ बोल्या, बैठ्या मोजाँ माण री ॥ ३ ॥

ओगड़

वटावू वीरा बाट घणी दिन थोड़ो ॥ टेक ॥
घर रह्यों दूर, सूरज घर हाल्यो, दोड़ सकै तो दौड़ो ॥ १ ॥
होय हुंसियार, हिम्मत मत हारो, हाक घणेरो घोड़ो ॥ २ ॥
निरभय होय, नगर जा पूग्या, विन पूग्यां होय फोड़ो ॥ ३ ॥
ओगड़ कहै, गरू के सरणै, मारग लखियो मोड़ो ॥ ४ ॥

घाटमदास मीणा

कुण जाणै पराए मनरी,
मन की तन की लगन की ॥ टेक ॥
हीरा की पारख जोहरी जाणै, चोट सहै सिर घण की ॥ १ ॥
साव जो चावै रैन च्यानणी, लागी लगन भजन की ॥ २ ॥
चोर ज चावै रैन अन्धारी, आस करै पर धन की ॥ ३ ॥
घाटमदास जात को मीणो, लज्या राखो सरण की ॥ ४ ॥

रघुवरदास

मन पछीड़ा रै काई सूत्यो सुख भर नींद ॥ टेक ॥
सूत्यो सूत्यो के करै रै, सूत्यां आव नींद ।
जम सिराणै यूँ खड्यो जी, जाणै तोरण आयो वींद ॥ १ ॥
नोबत हर के नाम की रै, दिन दस लेय बजाय ।
इण नगरी के चोवटै वदा, फेरूं मिलागा नाय ॥ २ ॥
सास सास में सुमर हर, सांस अवरथा न जाय ।
काई भरोसो सास को वदा, ओरूं आवै क नाँय ॥ ३ ॥
रघुवरदास चरण को चेरो, विनवै बारम्बार ।
ध्रू पहलाद वभीखण त्यारचा, अब क्यूँ लगाई वार ॥ ४ ॥

भैरूँजी भाटी

करले मायला मालक जी ने याद, जिण या थारी देह रची है,
इसड़ो काई तैं गरभ्यो गिंवार, काया बाड़ी देख हरी है ॥ टेक ॥
पाणी ओर पवन री पैदास, मायनै अगन की जोत धरी है ॥ १ ॥
नख चक दियो रै बणाय, मुखड़ा माही जीभ धरी है ॥ २ ॥
कलजुगियो है काटाँ केरी वाड, जिणमें चुड़ला टाल खड़ी है ॥ ३ ॥
हो गयो मागलो जोध जुवान, सिर पर खाँगी पाघ धरी है ॥ ४ ॥
बाजै बाजै वाय सुनाय, भोलो बाजै एक घड़ी है ॥ ५ ॥
सूत्यो काई तूँ पाँव पसार, सिर पर जम की फौज खड़ी है ॥ ६ ॥
भैरूँ भाटी महला री अरदास, अब्यो म्हारै भीड़ पड़ी है ॥ ७ ॥

काजी अहमद

यो तो जग झूठो रै संसार,
बंदा थारी नींदड़ली रै निवार ॥ टेक ॥
काल करंता आज करीजे, आज करंता अब।
ओसर चूक्यो जात है रै, फेर करैगो कब ॥ १ ॥
सेर सेर सोनो पहरती रै, मोत्याँ मरती भार।
कसो कासी कै चोवटै, राजा हरिचंद बेची नार ॥ २ ॥
खेड़ै खेड़ै ठीकरी रै, घड़ घड़ गया कुम्हार।
रावण सरीसा चल दिया, कोई लंका का सिरदार ॥ ३ ॥
ऊजड़ खेड़ा फिर वसै रै, निरधनियाँ धन होय।
गयो न जोवन बावड़े कोई, मूवो न जीवै कोय ॥ ४ ॥
ऊग्या सोई आधणै रै, फूलै सो कुमलाय।
चिणिया देवल ढह पड़ै रै, जलमैं सो मर ज्याय ॥ ५ ॥
हाथां परवत तोलता रै, समदर घूँट भराय।
काजी महमद यूँ भणै, कोई जीव अकेलो जाय ॥ ६ ॥

लिखमोजी माली

करल्यो भजन पुल आई रै साधो भाई,
खेती करो पुल आई ॥ टेक ॥
गिगन घुरत है, अभी तो झुरत है, चिमकै बीज सवाई।
बंक नाल रस धोरा उलट्या, छिल गई सुख मैं तलाई ॥ १ ॥
अब म्हारो मनवो किरसण बणग्यो, हेत खेत धंधै माई।
कूड़ सूड़नै काट परेरो, सील की बाड़ कराई ॥ २ ॥
हर केरो हलियो हाल हरख की, चितड़ै की चऊ दिराई।
अकल अरोली कुस करणी की, ग्यान वागड़ो ल्याई ॥ ३ ॥
नेम धरम दोय धोरी जोड्या, हरिरस रास घलाई।
ओऊँ सोऊँ दोय बीज बुहाया, बाँध बाँकली नलाई ॥ ४ ॥
करम निनाण किसी विध काढ़ाँ, भरम भरूँट भेलो माई।
कई कई साध सबद सैं काढ़ै, पाँच मजूर बिलगाई ॥ ५ ॥

तुरकटी थोरे टापी घालो, सुरत रूखालण आई।
कुबद चिडकली नै मार उडावो, गुरगम साट बजाई ॥ ६ ॥
सतङे की दाती हथ कर राखो, जरणा की फाली बणाई।
स्याऊ स्याऊ सिट्टा घाल झोली मे, मखरी सी पूँज बणाई ॥ ७ ॥
मनस्या की मेड रोपी मॉयले में, पाँच बलदिया गा' ई।
चाली पून उड गया चाचडा, कण कण रास बणाई ॥ ८ ॥
धन्नो भगत अर पीपो नामदे, सैन भगत बरसाई।
दास कबीरो लाटण लाग्यो, जद सूँ या साख सवाई ॥ ६ ॥
पाक्यो म्हारो खेत हेत कर निपज्यो, अब खेती रस आई।
लिखमो भणै गुरा कै सरणै, परालबध सैं पाई ॥ १० ॥

भोमजी

साधुडॉ कै भैंस भजन की दूझै,
दूध घई घ्रित इमरत जैसा, हरिजन हरिगुण बूझै ॥ टेक ॥
सतगुरु भैंस भजन की दीनी, सुखमन सोयण आछी।
उलटै साग थिरम होय बोलै, पडत न सरकै पाछी ॥ १ ॥
सतगरू भैंस सबद की दीनी, सत सुमरण की टीकी।
सींग सुवाली या तो सदा मतवाली, सब भैंस्यॉं में नीकी ॥ २ ॥
उनमन भैंस ऑगणै ल्याई, ल्याई प्रेम रस पाडी।
चेतन होय नर करे चाकरी, आगम आवे आडी ॥ ३ ॥
साझ पड्यॉं साधू पसर अछेरे, धुरमा धोरै धावें।
सो'रो चरै सत सबदां माही, राम रिझती आवै ॥ ४ ॥
चित कर चरी पवन सत घेरी, दिल सत दूझण लाग्या।
आया झाग भाग परवाणा, दिल का धोखा भाग्या ॥ ५ ॥
कई नर छाछ पी पी छिकग्या, कई नर दूध मथायग्या।
कई नर दटी सही कर लीन्या, माधूजन धिरत बखाएया ॥ ६ ॥
धुर लग धीणा, अन्तर भीणा, भिमता भरिया मटका।
भोमो भणै गुरा कै सरणै, पियो ना राम रस गुटका ॥ ७ ॥

भानीनाथ

मेरा रावलिया रम चाल्या री,
इण काया नगरिए मैं रोल पड़ी ॥ टेक ॥
इण रावल का सकल पसारा, जल पर नींव धरी चेजारा।
धन किस बी इट चिणणै हारा, अधर नींव डिग चाली री,
रम गया रावल छोड़ पड़ी ॥ मेरा० ॥
पांचं झुरवै सँग की दासी, काया गड छोड़ चल्या मेवासी।
घर आँगण मैं भई उदासी, विरहण का दुख भारी री,
एजी या तो सुन्दर झुरवै नार खड़ी ॥ मेरा० ॥
तुम सँग भोग करया भोतेरा, तुम चाल्या अब साहू कुण मेरा।
अटकी न्याव समद बिच बेड़ा, गिगन मँडल घर चलणा री,
एजी थे तो राम भजो मेरी काया जिनड़ी ॥ मेरा० ॥
गिगन मँडल मे उरध मुख कूवा, जिण कूवै मैं एक साधुजन मूवा।
जिस पिंजरै मे एक चंचल सूवा, सूवटिया रम चाल्या री,
एजी यो रहण न पावै एक घड़ी ॥ मेरा० ॥
नाथ गुलाब मिल्या गरु रमता, आसा पूरण करदी संता।
भानीनाथ सुणो मन चिन्त्या, सहज मिल्या दुख भाग्या री,
ए जी थे लँघो तरवीणी अठै क्यूं खड़ी ॥ मेरा० ॥

वाजिद

हेली संतॉ सँग प्रीत पलै तो पालिए।
राम भजन मैं या देह गलै तो गालिए ॥
हेली मिनख जमारो पाय ऐलो मत खोइए।
गाफल पड़सी रै मार नरक मैं झूलिए ॥
हेली मन हसती मस्ती मरै तो मारिए।
किनक न काम कलेस, टलै तो टालिए ॥
हेलीसूका पड़या सरवर, कँवल मुरझाइया।
मीन रही तड़फाय बुगला भख पाइया ॥
हेली बलो नगर वो गाँव, कथा नहीं राम की।

बींद होया बिन जान, कहो किण काम की ॥
हेली कहै वाजिंद विचार, राम लव लाइए ।
मिनख जमारो पाया, ऐलो मत खोइए ॥

जैतगिरी

हर हिरदै के भीतर आवो जी,
विन सतगरू नर कोई ना समझै नेड़े सै दूर कहया ॥ टेक ॥
चेत चेत मन चिंत्या मिटगी, हिरद उपजै बुद जी ।
सासा सुमरण कर घट भीतर, यो ही नाँव एक खुद जी ॥ १ ॥
डोरी जाय लगी है सुन मैं, भयो च्यानणो तन मैं जी ।
आवत जावत कछू ए न दीखयो, पकड लियो है वचन मैं जी ॥ २ ॥
जामण मरण जिना का मिटग्या, नाभ कँवल दिल सोझ्या जी ।
दिल की दुरमत जिन की भागी, जा सतगुर नै बूझ्या जी ॥ ३ ॥
गैब च्यानणो भयो घट भीतर, बिन बाती बिन तेल जी ।
सोहँ सिखर भयो उजियालो, ये कुदरत का खेल जी ॥ ४ ॥
गरु मिल्या मेरा सासा मिटग्या, दिल अपणा समझाया जी ।
गुर सरणै सैं भणै जैतगिर, फेरूँ जलम नहिं पाया जी ॥ ५ ॥

भजनगिरी

सखी रै समझ पकड़ ल्यो मन में,
रहणा लगन मगन में ॥ टेक ॥
काची काया जैसे कुम्भ बणायो, वस्त उतादी उन में ।
इण काया रो गरब न करणो, विणस ज्यायगी छिन में ॥ १ ॥
सरबँग होय मही कर देख्यो, कोनी आयो निरखण में ।
सीतल गरम अग नहिं चाँकै, जल तो नहिं है अगन में ॥ २ ॥
च्यारी वेद-पुराण पढूँ भाचूँ गीता, नहिं बावन अछर में ।
च्यार कूँट अर चौदा भवन मैं, व्यापक है यो सकल में ॥ ३ ॥
दिस्ट मुस्ट बिना मालक देख्यो, देख लियो इण तन में ।
ना कछु हलको ना कछु भारी, पकड लियो है वचन में ॥ ४ ॥

गऊ तो बिसमगिरजी किरपा कीनी, लग गयो खरी लगन में ।
दोऊ कर जोड़ भजनगिर गावै, भान उदय भयो मुन में ॥ ५ ॥

त्यारणदास

याद करो जद आवाँगा गरवाँ,
दया करो जद आवाँगा जी ॥ टेक ॥
तन मन राम तुमारै सरणै, ज्यूँ राखो त्यूँ रै' वाँगा जी ।
नागै भुखाँ की तुम नै लज्या, तुम देवो म्हे खावाँगा जी ॥ १ ॥
तिरथां न जावां जल में न न्हावाँ, ना कोई जीव सतावांगा जी ।
अड़सठ तिरथ म्हारै गुराँ जी बताया, घट में गंगा न्हावाँगा जी ॥ २ ॥
ओखद खावां न बूँटी म्हे ल्यावां, ना कोई वैद बुलावाँगा जी ।
पूरण वैद मिल्यो अवनासी, ज्यां कूँ नबज दिखावाँगा जी ॥ ३ ॥
फूल न तोड़ां पथर नहिं पूजां, ना कोई देव मनावाँगा जी ।
पान पान में है परमेसर, जिण कूँ सीस नवावाँ जी ॥ ४ ॥
तन चौगान जलाई भट्टी, सुखमण माह भरावाँगा जी ।
लग रही झाक पलक नहिं विसराँ, ऐसी मतवाल बणावाँगा जी ॥ ५ ॥
एक पियालो पियो रै मन मेरा, जामण मरण मिटावाँगा जी ।
त्यारणदास गुरां जी कै सरणै, वैकुंठाँ घर पावाँगा जी ॥ ६ ॥

देवजी माली

लग रही डोर हरी रस प्यालै,
वाँ भगवान भला ई भज्या जी ॥ टेक ॥
मंदा भाग जिण राम न जाण्या, भाग भला भगवान भज्या जी ।
सजिया काज गोपीचँद राजा, राज तज्या जद अमर भया जी ॥ १ ॥
हरि रस हीर कबीर कुमाया, निरगुण नाँव सरीर लग्या जी ।
जाँसै प्रीत आगली पाली, देह बिच दिवला अटल जग्या जी ॥ २ ॥
पापी पिता पुतर हर को पायक, पारस नांव पहलाद रट्या जी ।
राख्यो वैर रहैर सारै सैं, हर कै नावां सै बिड़द बध्या जी ॥ ३ ॥
मान गुमान मारियो मीरां, साचै मन परवार तज्या जी ।
ले बैराग राम रँग राँची, आ साधाँ का पाँव पुज्या जी ॥ ४ ॥

रूपादे रम्या साधाँ के मेलु, सो मारग सो वार सझ्या जी ।
भीड़ पड़याँ सिमरयो भवतारण, पत राखो ज्यां की राम लज्या जी ॥ ५ ॥
सुरतां सौंपणी नै वंस कर राखो, दिल बिच राखो धिरज धज्या जी ।
दोऊ कर जोड़ बोल्या माली देवसी, मनद सोम्या ज्या का काज सज्या जी । ६ ।

रूपजी जाट

बिग मत जीव, पीव न भज ले,
राख भरोसा मालक का रे ॥ टेक ॥

चाला चिंतत करै या नटणी, जोख्याँ छाल्यां जीव फिरै ।
चढ़ कै बास भ्रत चढ जोवै, कैंया खलक मेरो पेट भरै ॥ १ ॥
मडक मडक कर भौपी बोलै, दिल बिच राखै कपट छुरो ।
अण दोख्याँ नै दोख लगावै, पहली चढावो मन्नै करो ॥ २ ॥
हस्ती चरवै एक बैनटी, जाँको पेट काई दुभर खरो ।
करै नहिं काम करम बाँको जोवो, सब जीवाँ मैं सरस खड्यो ॥ ३ ॥
इजगर अपस आतमा के ह्वारै, जाँको पेट दुभर खरो ।
आठ पहर ; सै एको बरियाँ, रोजी लियाँ बाधो हाजर खड़यो ॥ ४ ॥
खेती करो कुमापर खावो, आस पार की मती करो ।
रूपो जाट अलख नै सुमरै, हर सिमरया बेडा पार करो ॥ ५ ॥

प्राणनाथ

कैसा गरू नुकता, कैसा गुर नुकता,
म्हानें दोन्या सबद म्हानें तुँही तुँही करता,
माँय बैठ्यो जाकी करो ओलखाई, साखीधर सायब तिरता ॥टेक॥

सन्त होया जाँका जोय जोय मारग, केल छोड बँब क्यूँ चढ़ता ।
लग ज्याय सूल जदै नहिं अधा, भाल खाय अठै अड़ मरता ॥ १ ॥
धोरै की सींक जग मैं ऊभो, सार नचन पर नहिं टिकता ।
आडी आडी नदी बगै दुचघाँ की, म्याफ पाद ये म्हाँई खलता ॥ २ ॥
मान बढाई नै सब कोई मरता, भगतै कारण कुण मरता ।

मन मैं राज इन्दर को लेवै, लिख्या राज विरला करता ॥ ३ ॥
दयानाथ म्हानै भेद बतायो, सहजाँ लागी अखँड सुरता ।
प्रागनाथ आणँद घर पाया, निरभय जाय अजब जपता ॥ ४ ॥

हरीराम

फकीरी जीवत धुकै रै मुसाण, कर लीज्यो निज थाण ॥ टेक ॥

छ दरसण छत्तीसूँ पाखँड, कर रया खैंचाताण ।
आण पड़ी इण जुग कै मांही, जद म्हानै पड़ी पिछाण ॥ १ ॥

अगम निगम दो बाणी जुग मैं, ऊबी करै बखाण ।
आठूँ प्हैर सोलवाँ गावै, जद पूर्णं परवाण ॥ २ ॥

अन्त कोइ साधूजन तापै, नो नाथाँ कर जाण ।
राजा परजा दरसण आवै, धन जोगी थारै पाण ॥ ३ ॥

सिर नै काट लड़ै कोई सूरो, धड़ सैं झूझै आण ।
तप की ताप सवै कोई तपसी, कायर तजै विराण ॥ ४ ॥

विरम मिलण को पटो लिखायो, दिल बिच ऊग्यो भाण ।
हरीराम वैराणी बोल्या सतगरू मिल्या है सुजाण ॥ ५ ॥

गोपीसर

फकीरा निरभय पड्या, निरभय होय,
लोक लाज सब खोई रै फकीरा, निरभय पड्या निरभय होय ॥ टेक ॥

अम्मर ओडण भोम पथरणा, बीच फकीरा सोय ।
भूत पलीत की संका न होई, जीवत मुरदा होय ॥ १ ॥

दीसत मुरदा है वो चेतन, जाण सकै ना कोय ।
वै की गत तो वो ही जाणै, नहिं तो हँसै नहि रोय ॥ २ ॥

आवत जावत सांस झिकोलै, हर दम हिरदा धोय ।
तुरिया अतीत हुवै नहिं वांकै, जामण मरण नहिं होय ॥ ३ ॥
गोपीसर अजनेसर सरणै, जाण सकै नहिं कोय ।
पार विरम परमातम होई, हर सूँ मिलणा होय ॥ ४ ॥

तिरलोक जी महाजन

म्हारै मदरिए में बिना दीपक अँधियारो ॥ टेक ॥
जल गयो तेल सँपड गई बतिया, तेल न घाल्यो उधारो ॥ १ ॥
उठ गयो बाणियो रे जड गई हाटडी, जातो दे गयो तालो ॥ २ ॥
आधी रात को लदग्यो विणजारो, जातो कर गयो ललकारो ॥ ३ ॥
सतगरु सरणै बाण्यो गावै तिरलोको, राम भजो रे मन म्हारो ॥ ४ ॥

लालदास

संकट में साधो हिरणी हर सैं पुकारी ॥ टेर ॥
सकट में एक वकट उपन्यो, कहै पुरस नै नारी ।
किरपा करो निज दाता मो पर, उबरूँगी सरण विहारी ॥ १ ॥
बांवरिए बन बावर रोपी, एक नाकै धूणी जारी ।
एक नाकै दोय स्वान बिठाया, एक नाकै सिकारी ॥ २ ॥
उड गई अगनी जल गई बावर, स्वान गया सुस लारी ।
उलटी बँमी मॉसू नाग निकरयो, डस गयो सरप सिकारी ॥ ३ ॥
नाचत कूदत हिरणी चाली, लीन्या बालूड्यो लारी ।
लालदास भगवान भरोसै, ऐसी हिरणी उबारी ॥

डूँगरपुरी

म्हारा बीरा रे, सतगरू सायब म्हारै एक है,
साधुडा सैं किसी रे मिलात, इमरत प्याला भेला पिया जी ॥टेक॥
धोबिडो धोवे है गुर का धोटिया रे तन मन साबण ल्याग ।
(पण) बिण पाणी बिण साबणाँ मैल धुप धुप जाय ॥म्हारा०॥
काया नगरिए मै हाटडी जी, विणज कर साहूकार ।
कोई कोई कोडीधज हो चल्याजी, कई गया मूल ठगार ॥म्हारा०॥
काया नगरिए में आमली जी, कोयल करै छे किलोल ।
कोयल्यॉ का सब्द सुहावणा जी, वारी जाऊँ गुरु जी का बोल ॥म्हारा०॥
सीप समदराँ में नापडै जी, मोतीड़ा सीपाँ मैं जाण ।
बूंद पड़े निज नाँव की जी, साधुडा पाड़ै है पिछाण ॥म्हारा०॥

सतगरु सबद प्रगासिया जी, सिमरूँ सांसो सांस ।
संत डूंगरपरी बोलिया जी, साधुड़ां को अमरावर बास ॥म्हारा०॥

बींजादास

करले बंदा भजन बंदगी हर की, छोड़ जगत का माया मोय,
निरभय होय सतसंगत करले, दुनिया में जिवणा दिन दोय,
चलणा है रहणा नहीं साधो ॥ टेक ॥
मैं पुतरी विरमा की कहिए, तूँ बालक विरमा का होय ।
वेद पढो भावूँ जावो कासी, भरम मिट्या बिना भाजै ना भोय ॥कर०॥
माटी का कलबूत बणाया, दस दरवाजा रख दिया सोय ।
दस दरवाजा अनहद बाजै, हद बिच रचना रच रही होय ॥कर०॥
इण बाड़ी में भँवर रँगीला, भीणी ऊठ रही खसबोय ।
मरग्यो मदवो जीव बासना, लेग्यो रै फूलाँ में लपटोय ॥कर०॥
चाँदी सेती सोनो अकरो, सोनै सेती अकरो लोय ।
जिणरी घड़ी छुरी रै कटारी, धरयाँ सीस पर करदे दोय ॥कर०॥
राम नाँव की चोपड़ ढाली, सुरत निरत का पासा दोय ।
गरू अर चेलो दोनूँ खेलण बैठ्या, पासा ऊपर पड़ गई पोय ॥कर०॥
गड न्याँगल अस्थान साधका, स्यो बड़ लैरयाँ लैरयाँ होय ।
बींजादास जोगीसर गावै, राम भज्या नर उबरया सोय ॥कर०॥

पूरणदास रैदासी

ले सूवा हर नाँव, नाँव सूँ तिरज्यासी,
संगी नहि संसार, कोटड़ी है काची ॥टेक॥
सिमरूँ सारद माय, सारदा तूँ साची ।
लगू गुराँ कै पाँय, गुराँ पोथी बाँची ॥ १ ॥
कुण थारो मायर बाप, कूण सागो लेसी ।
कूण करै मनवार, कूण आगो लेसी ॥ २ ॥
नेकी मायर बाप, धरम सागो लेसी ।
राम करै मनवार, स्याम सागो लेसी ॥ ३ ॥

माटी की गणगोर, घाघरो घमकासी।
च्यार दिना को खेल, कूवै में धमकासी ॥ ४ ॥
उलमयो सो मण सूत, सूत कुण सुलझासी।
गावै पूरण दास, जात को रैदासी ॥ ५ ॥

विहारी

या ही या ही गल गुरों अखदी,
सतों जीवतों मुक्त सो मुकती ॥टेक॥
विभचारण पिव कबहूं धावै, गॉठ कपट दिल रखती।
पतिभरता तो पिव की दासी, देखै वदन छिप छिपती ॥ १ ॥
लोचन ग्यान जाग्या दिल भीतर, जागी जोत भभकती।
रवि ऊग्यों रजनी नहिं पावै, दुरमत गई है अपरती ॥ २ ॥
ना कोई दूर, दूर से नेड़ा, कहण सकूँ ना सॅकती।
दे दुरबीण दिदार दिखाया, सतगरू मिल्या है समरथी ॥ ३ ॥
ग्यान तेग धुर म्यान न मावै, फटकारी धक धक धकती।
भरम मोरचै ऐसी मारी, रती ए न छोडी लगती ॥ ४ ॥
पाप पुन्न दोनूँ नहिं पूगै, करणी न जावै सॅकती।
कथै है विहारी देस दिवाना, निरखैगा मन मसती ॥ ५ ॥

लिछमण जती

अपणै गुरों के दरबार आवो जती सती,
नुगरा मिलज्यो को मती,
पापी मिलज्यो लाख पचास, नुगरा मिलज्यो को मती ॥टेक॥
पकी घड़ी का तोल बणाल्यो, काण न राखो रती।
राजा हरिचँद सत पर भूमयो, तारादे हो गई सती ॥ १ ॥
सुरत चॅदूरा ग्यान पपैया, माखन खाणा मती।
जे खावो तो वायर खावो, जद पावोगा रती ॥ २ ॥
कै जोजन में सत पड्या है, कै जोजन में जती।
किताक सत तो पार उतरया, कितोक गया बेगती ॥ ३ ॥

गोरख नै कबीरा मिल गया, दोनूँ मिल गया सती ।
राजा दसरथ को छोटो बालको, गावै लिछमण जती ॥ ४ ॥

धेनदास

धेनदास मत करै अणेसा,
इण मारग संसार गया रै ॥टेक॥

सैस पुतर राजा सुगड़ कै होता, तुवै नीर दाँतण करता ।
फिरीमनोरी म्हारै अलख धणी की, धरण घिसी जद् माँय रह्या रै ॥ १ ॥
पाँच पुरत राजा पाँडु क होता, आप नारायण वाँकै सँग रमता ।
फिरी मनोरी म्हारै अलख धणी की, हिंवाल़ै तणा वानै हुकम हुया रै ॥ २ ॥
मामो नारायण भ्रात सोदरा, अरजन पाँडु खास पिता ।
फिरी मनोरी मेरै अलख धणी की, अभमनिए सिरसा खता गया रै ॥ ३ ॥
राजा हरिचँद तारा दे राणी, धोल़ागड को राज करता ।
फिरी मनोरी मेरै अलख धणी की, घर चूँड़ै के नीर भरया रै ॥ ४ ॥
हेत कर दिया परीत कर लीन्या, टुक इक मन त्रिसवास गया ।
धेन ध्यान गुराँ का धरिया, मुवोड़ा पूत ज्यांका बैठ्या हुया रै ॥ ५ ॥

ध्यान देने की बात है कि इन संत कवियों की वाणी और इनका जीवन एक ही वस्तु है । इन्होंने सत्य की साधना की है और उसे जनता को अमृत के रूप बाँटा है । इनकी तपस्या ने ही इनकी वाणी में अमरता का तत्व मिलाया है । इन वाणीयों के संकलन से राजस्थानी साहित्य के कई अज्ञात कवि प्रकाश में आएँगे । संकलन के बाद इनका आलोचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जाना जरूरी है । इस काव्यधारा में राजस्थान की ठेठ भाषा की मधुरता समाई हुई है । इसमें यहाँ की बोलचाल का भी बड़ा ही सुन्दर रुप है । साथ ही इनकी भाव-धारा भी बड़ी सरस है । ये वाणियाँ गेय पद हैं । अतः इनकी अपनी अलग अलग धुन अथवा ढाल है । इनके स्वर भी इनकी अपनी विशेषता है । अच्छा भजनीक ही इनको उचित रूप से गा सकता है । जब ये पद जागरण में गाए जाते हैं, तो भक्त मण्डली में अमृत की भी वर्षा होती है । राजस्थान में एक

कहावत है कि अमृत तो बाँटने के लिए ही होता है। यहाँ के साहित्य सेवियों को इस कहावत को चरितार्थ करना चाहिए।

नोट:–

इस लेख को तैयार करने में लेखक को बिसाऊ (शेखावाटी) निवासी प० जेसराजजी वालासरिया से पर्याप्त सहायता मिली है। आपने काफी समय तक संतों के साथ सत्संग किया है और स्वयं भी संतस्वभाव के सज्जन हैं। इस वृद्धावस्था में भी आप पूरा जागरण अकेले ही आसानी से गा लेते हैं। —लेखक

सम्पादकीय–

१. शाह बरकत उल्ला की हिन्दी कहावत विषयक रचना

शाह बरकत उल्ला की कृतियों में से एक है "रिसाला अखबारिके हिन्दी" जिसका तात्पर्य है "हिन्दी कहावत विषयक रचना।" इस कृति में १६८ हिन्दी कहावतें संकलित की गई हैं। लेखक ने प्रत्येक कहावत की आध्यात्मिक व्याख्या की है। इनमें से कुछ कहावतें ऐसी हैं जो लेखक के समय में प्रचलित रही होंगी किन्तु जो अब प्रयोग में नहीं आ रही हैं, कुछ ऐसी कहावतें हैं जिनका बहुत कुछ रूपान्तर हो गया है। कहावतों की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए शाह बरकत उल्ला ने फारसी अरबी की अनेक सूक्तियों और लोकोक्तियों का उल्लेख किया है। कहावतों द्वारा मानव जीवन की एकता प्रतिपादित करना लेखक का लक्ष्य रहा है। आध्यात्मिक विषयों की रूप रेखा लेखक के मानस में स्पष्ट है और उसी क्रम से उसने कहावतों का विन्यास भी किया है। किसी भी अन्य लेखक ने, मेरी जानकारी में, कहावतों के माध्यम से आध्यात्मिकता के प्रतिपादन का ऐसा प्रयास नहीं किया और न हिन्दू मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए इस पद्धति का अवलम्बन किया।

स्व०महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री ने इन कहावतों तथा लेखक द्वारा की हुई व्याख्या का अंग्रेजी अनुवाद करके इनका सटिप्पण संस्कृत रूपान्तर भी किया था जिसमें ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की सूक्तियों से स्थान स्थान पर तुलना भी की गई थी। अगस्त १६४६ में Shah Barakat Ullah's contribution to Hindi Literature के नाम से उक्त महामहोपाध्यायजी ने यह ग्रंथ प्रकाशित करवाया था।

२. हिन्दी कहावतों का प्रकाशन

यह देख कर दुःख होता है कि हिन्दी के राष्ट्र भाषा हो जाने पर भी हिन्दी कहावतों का कोई बृहद् संग्रह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। श्री महावीर प्रसादजी पोद्दार सूचित करते हैं कि "भारतीय भाषाओं में जो भाषाएँ मैं जानता हूँ जैसे संस्कृत, मराठी, गुज़राती, बंगला, उर्दू, हिन्दी, गुरुमुखी, गढ़वाली और मारवाड़ी, इन के छपे हुए अथवा हस्त लिखित संग्रह तो मैंने देखे। इनमें से कहावतों के मामले में मुझे हिन्दी ज्यादा संपन्न जँची। किसी का संग्रह दो हजारी है, किसी का चार हजारी, किसी का पांच हजारी, पर मेरे संग्रह में हिन्दी की कहावतें ही सात आठ हजार के लगभ हो गई हैं। हैदराबाद के 'पयाम' पत्र के संपादक महोदय ने मुझे सूचित किया था उनके हस्त लिखित उर्दू के संग्रह में दस हजार कहावतें हैं। मुझे वह देखने को नहीं मिला है। मेरा खयाल है, उर्दू और हिन्दी की कहावतों में बहुत थोड़ा ही फर्क है। मेरे पास उर्दू के छपे हुए जो संग्रह हैं उनमें कुछ फारसी की कहावतों को छोड़ कर बाकी वही कहावतें हैं जो हिन्दी कहावत संग्रहों में हैं। इस दृष्टि से हिन्दी और उर्दू की पूँजी तो एक ही समझनी चाहिए। हिन्दी में अब तक कोई अच्छा संग्रह नहीं निकला है। जो निकले हैं उनमें श्री विश्वंभरनाथ खत्री का कहावत-कोष सबसे बड़ा है पर उसमें तीन हजार के लगभग ही कहावतें हैं।

मैं नहीं कह सकता कि हिन्दी में कहावतों की कुल संख्या कितनी होगी, बीसों हजार हो सकती हैं।

जिस भाषा में कहावतों की संभावित संख्या 'बीसोंहजार' हों, उस भाषा में केवल तीन हजार कहावतों का कोष सबसे बड़ा कोष समझा जाय, यह राष्ट्र भाषा प्रेमियों के लिए शोचनीय स्थिति है। मैं श्री पोद्दारजी से ही निवेदन करना चाहूँ कि वे अब तक संग्रहीत अपनी कहावतों को किसी वैज्ञानिक पद्धति पर वर्गीकृत कर यथासंभव शीघ्र ही प्रकाशित करें ताकि हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि हो।

—कन्हैयालाल सहल